जैनधर्म

[जैनधर्म-संबंधी सर्वोपयोगी पुस्तक]

लेखक :

मुनिश्री सुशीलकुमार शास्त्री

संपादक :

मुनिश्री विजयमुनि शास्त्री

सन्मति साहित्य संगम

१०३४, हीरानन्द गली, मालीवाड़ा

दिल्ली-६

समर्पण

विश्व में जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए तन-मन-धन ही नहीं, अपना जीवन-सर्वस्व समर्पित करने के लिए जो दिन-रात लालायित रहते हैं ऐसे आनन्द और उत्साह की सजीव मूर्ति पद्मश्री एवं प्राणिमित्र सेठ श्री आनन्दराजजी सुराणा को सादर समर्पित !

—शान्तिलाल व० शेठ

सन्मति-साहित्य-संगम के उद्देश्य

१. भारतीय संस्कृति, साहित्य, तत्त्वज्ञान, इतिहास, धर्म, समाज, शिक्षा, स्थापत्य के समन्वयात्मक साहित्य का प्रकाशन करना।
२. भारत-भारती और संस्कृति का संगम करना।
३. भारतीय भाषाओं में सत्य और अहिंसामूलक सन्मति साहित्य का संपादन और प्रकाशन करना।
४. प्राचीन प्राकृत साहित्य का संकलन, संरक्षण, संपादन और प्रकाशन द्वारा सार्वजनिक प्रसार करना।
५. सामाजिक व भावात्मक एकता के निर्माण करने हेतु सर्वोदय-कारी और समन्वयकारी साहित्य को प्रकाशित करना।
६. साहित्यकारों का स्तर ऊँचा उठाना और साहित्यकारों को पुरस्कृत एवं सम्मानित करना।
७. साहित्य-गोष्ठी, साहित्य-सम्मेलन तथा साहित्य-प्रदर्शिनी द्वारा साहित्य-चेतना को जागृत करना।
८. सांस्कृतिक और साहित्यिक व्याख्यानमाला का आयोजन करना।
९. जन-साधारण में सन्मति साहित्य के प्रति रस व अभिरुचि बढ़ाने के यथासंभव सभी प्रयत्न करना।

सन्मति साहित्य संगम ने ऐसे साहित्य को संपादित और प्रकाशित करने का निश्चय किया है जो—

१. सर्वोपयोगी हो, २. असाम्प्रदायिक हो, ३. विरोधात्मक न हो अपितु समन्वयात्मक हो, ४. जनधर्म के मौलिक सिद्धांतों का प्ररूपक हो, ५. जैन समाज की भावात्मक एकता का पोषक हो।

ऐसे समन्वयात्मक सर्वोपयोगी जैन-साहित्य को गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी, तीनों भाषाओं में सन्मति-साहित्य के नाम से एक सन्मति-साहित्यमाला प्रकाशित करने का निश्चय किया है!

समाज की माँग के अनुसार अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी सन्मति-साहित्य प्रकाशित करने की योजना है।

शान्तिलाल व० शेठ
प्रबन्धक संपादक

दृष्टिकोण

मुनिश्री सुशीलकुमार जी

हम एक संक्रमण-काल में से गुजर रहे हैं। युग-परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहा है। दृष्टिकोण और धारणाएँ बदल रही हैं। एक दिन था जब व्यक्ति जीवन की मनोरमता के प्रति अत्यन्त आकृष्ट था। विलास व वैभव की सामग्री उसी के लिए जोड़ता था। संस्कृति और सभ्यता के उपकरण भौतिक विज्ञान एवं सामाजिक निर्माण के साधक कल-यन्त्र एवं राज्यतंत्र के विकास के माध्यम जिस जीवन की ललक में वह सजा रहा था, वह जीवन आज समस्या बन गया और समस्या भी इतनी भयानक कि आज का मानव जीवन के सर्वनाश की तैयारी में पूरी शक्ति से लग गया है। आत्महत्याओं की बाढ़ आ गई है, आशा और उल्लास के क्षितिज पर निराशा का कोहरा पड़ गया है। इस जीवन का क्या उद्देश्य है, यही सब के लिए अज्ञात है। बिना प्रयोजन के क्यों इस जीवन को रखा जाय, यही एक निराशा है। हमारे सामने ये दो युग बीत गये, एक में जीवन की लालसा और एक में जीवन का सर्वनाश।

आखिर ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि हम केन्द्र से हिल गये। हम अपने स्वभाव से विमुख हो गए। वासनाओं और बाह्य

दृश्यों ने हमारे मन में जिन कमनीय लालसाओं को और मिथ्या धारणाओं को स्थापित किया वे सब हमें विकृति ओर ले गईं। स्वभावच्युत हो जाने के बाद सिवाय दुःखद अन्त के किसी और परिणाम की आशा नहीं की जा सकती। जैन धर्म के पास अभी इसका उपाय है, वह कहता है कि हमारा 'स्वभाव' ही हमारा धर्म है। स्वभाव की पूर्णता ही जीवन की सर्वांगीण और श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। बिना परिपूर्ण ज्ञान के हम अपने आप को अभावों से विमुक्त नहीं कर सकते। आध्यात्मिक जीवन, तत्त्व-चिन्तन उस परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के साधन हैं। जैन-धर्म उस अनन्त एवं परिपूर्ण ज्ञान का प्रतिनिधि बनकर आत्मा की परिपूर्णता की ओर व्यवस्था देता है और चलने की प्रेरणा देता है।

जैन-धर्म की अतुल सम्पत्ति में से यह एक छोटी-सी पुस्तिका, सामान्य-सा परिचय का काम दे सकेगी। इसी विश्वास के साथ इस पुस्तिका का प्रकाशन किया जा रहा है। मेरे अभिन्न साथी, जैन-धर्म के तत्त्व-चिन्तक श्री विजयमुनि जी ने इतना संक्षेप और सुन्दर संपादन किया है, मैं उनका तदर्थ आभारी हूँ और सर्वोदयी विचारक श्री शान्तिलाल व० शेठ इसको प्रकाशित करने जा रहे हैं, यह जैन धर्म के जिज्ञासुओं और पाठकों के लिये हर्ष का विषय है।

मैं इस पुस्तिका प्रकाशन के उद्देश्य की सफलता चाहता हूँ।

सन्मति साहित्य-माला के प्रति

शुभाशी:

आदमी सब विषयों की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु जीवन की नहीं। मनुष्य जीवन जीने के लिए ही पैदा हुआ है। जीवन सुखमय हो या दुःखमय, गम्भीर हो या छिछला, मनुष्य को जीवन का रस है ही। इसीलिए मनुष्य जीवन-चर्चा में हमेशा रस लेता है। कथा-कहानी, इतिहास और उपन्यास जीवन के ही वर्णन हैं। इसीलिये उसका साहित्य इतना रोचक है।

लेकिन मनुष्य को केवल वर्णन से संतोष नहीं होता। अपना जीवन कैसे सुधरे, अर्थपूर्ण बने, उन्नति की ओर जाये, इसकी चिन्ता में मनुष्य ने अपने लिए धर्म बनाया। और धर्म का अनेक तरह से विस्तार किया। फिर तो अनेक धर्म पैदा हुए। उनके बीच झगड़े भी चले और धर्म ने संकुचित होकर सांप्रदायिकता का रूप लिया। यह सब देखकर कभी मनुष्य धर्म-चर्चा के प्रति अरुचि बताने लगे हैं। धर्म का नाम सुनते ही मुँह मोड़ते हैं। तो भी धर्म-चर्चा उन्हें छोड़ती नहीं। बाबा कम्बल छोड़ने को तैयार है, लेकिन कम्बल ने बाबा को पकड़ रखा है और लाख कोशिशें करने पर भी उसे वह छोड़ता नहीं। कैसी हालत हो गई है मनुष्य जाति की!

यह सब देखकर कभी लोगों ने सोचा कि धर्मों में से उनकी संकुचितता, साम्प्रदायिकता छोड़कर धर्म के चिरन्तन रूप का मनन किया जाय ताकि मनुष्य को उससे उन्नति की प्रेरणा मिले।

इसी ख्याल से यह ग्रंथमाला प्रवृत्त हुई है। जिस प्रवृत्ति के प्रेरक और पोषक सज्जन अधिकांश जैन हैं, इसलिये उन्होंने इसी धर्म से प्रारम्भ किया है। किन्तु यह पहल जैन धर्म तक सीमित नहीं रहेगी। आजकल का जमाना भी धर्म-हानि के लिए अनेक धर्मों का परिचय पाये बिना संतोष नहीं मानता। इस माला में भी हरएक धर्म के निष्ठावान मनीषियों के विचारों का संकलन करना चाहिए, धीरे-धीरे जिसमें सब धर्मों का परिचय आ जायेगा।

निःसंशय यह एक शुभ प्रवृत्ति है। जिसका प्रारम्भ भले ही हिन्दी और गुजराती भाषा तक सीमित हो। आगे जाकर सार्व-भौम विचारों का प्रचार भी सार्वभौम हो। हमें विश्वास है कि यह माला प्रारम्भशूर न होते हुए व्यापक और स्थायी रूप पकड़ेगी और मानवता की सेवा करेगी।

—काकासाहेब कालेलकर

धर्म

आज के जन-जीवन में धर्म के प्रति श्रद्धा तो है, परन्तु वह कैसी है ? किसी देवता की पूजा कर ली, आरती उतार ली, फल-फूल चढ़ा दिए—इसी प्रकार की कुछ-न-कुछ श्रद्धा है। परन्तु उसे हम धर्म का वास्तविक रूप नहीं कह सकते। धर्म क्या है, वह कैसे किया जाता है ? यह एक गम्भीर विषय है। धर्म का सम्बन्ध मात्र हमारे शरीर से ही नहीं, वचन और मन से भी है। धर्म जब मानव के तन तक ही सीमित हो जाता है, तब उसका नाम सम्प्रदायवाद हो जाता है। धर्म का आधार मनुष्य का शरीर नहीं, बल्कि मनुष्य का हृदय है। जो धर्म केवल परलोक के लिए होता है, उसमें आज का तर्कवादी मानव विश्वास नहीं कर सकता। धर्म का फल परलोक हो, इससे किसी प्रकार का विरोध नहीं, परन्तु उस धर्म से हमारे वर्तमान जीवन में भी परिवर्तन और विकास होना ही चाहिए। श्रद्धा और तर्क मानव-जीवन के विशेष गुण हैं। केवल श्रद्धा—अन्धश्रद्धा न बन जाए, इसलिए तर्क की आवश्यकता रहती है और केवल तर्क—कल्पना मात्र न रह जाए, इसलिए श्रद्धा की आवश्यकता है। जो धर्म श्रद्धा और तर्क के समन्वय से जीवन में प्रवेश करता है वह जीवन में परिवर्तन और विकास अवश्य ही लाता है।

धर्म का आधार

धर्म का आधार है—मानव-जीवन । स्वर्गलोक-वासी देव चारित्र-धर्म का पालन नहीं कर सकते । क्योंकि उन्हें सुख-भोग से ही अवकाश नहीं मिलता । नरक के नारकी भी धर्म का पालन करने में असमर्थ हैं क्योंकि उन्हें दुःख-भोग से अवकाश ही नहीं । पशु और पक्षी भी धर्म का पालन कैसे करें, अतः धर्म की आधार-भूमि एकमात्र मानव-जीवन ही है । मानव अपनी साधना के द्वारा विकास की ऊँची-से-ऊँची भूमिका पर पहुँच सकता है, अतः मानव-जीवन एक ऐसा जीवन है जिसमें धर्म फल-फूल सकता है ।

जैनधर्म एक सार्वभौम धर्म है । यह किसी चहारदीवारी में बन्द या देश-काल की सीमाओं में सीमित रहने वाला नहीं है । यह तो प्रकृति की तरह सार्वत्रिक और सार्वकालिक है, पवन की भाँति उन्मुक्त है । इसके सिद्धांतों में व्यापकता है, उदारता है और विशालता है । जैनधर्म में किसी भी प्रकार का भेदभाव, जातिवाद, वर्णवाद और ऊँच-नीच को प्रश्रय नहीं दिया गया है । इसका पालन करने वाला किसी भी देश का, किसी भी जाति का हो सकता है, किन्तु एक ही शर्त है कि उसका अहिंसा और अनेकान्त में अटूट विश्वास होना चाहिए ।

धर्म का स्वरूप

धर्म को लेकर प्राचीन काल से ही चिन्तकों में मतभेद रहा है । उसी मत-विविधता का फल यह निकला कि आज जगत् में

धर्म की दो हज़ार दो सौ सम्प्रदायें अस्तित्व में आ चुकी हैं, और भी अन्य सम्प्रदायों का नये-नये सम्प्रदायों के रूप में परिवर्तन होता चला जा रहा है। मानव-जाति के साथ यह खेदजनक घटना प्रारम्भ से ही घटित होती रही है कि धर्म की शक्ति सदा से साम्प्रदायिकों के हाथों का खिलौना रही है और विज्ञान की शक्ति राजनीतिज्ञों के इशारों पर नाचती रही है। धर्म और विज्ञान सत्य का अनुसन्धान करते-करते मनुष्य को मिले हैं। धर्मों के अनुसंधान की जन्म-भूमि एशिया है। एशिया के भूखण्डों से ही निकली हुई धर्म की धाराओं ने समूचे जगत् को आप्लावित किया है। भारतवर्ष धर्म के अनुसंधान में सबसे आगे है। वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म की धाराएँ इसी देश से निकली हैं, यद्यपि जरथुस्त, यहूदी, ईसाई, इस्लाम धर्म की परम्पराएं ईरान, पैलेस्टाइन और अरब के जन-मानस से प्रस्फुटित हुई हैं और लोओत्से-ताओ और कन्फ्यूशियस तथा सिन्तो धर्म की धाराओं ने चीन और जापान को धर्म का पाठ पढ़ाया है।

जगत् के इन तमाम धर्म-प्रवर्तकों ने ऐसा कभी नहीं कहा कि हम एक नया धर्म प्रवर्तित कर रहे हैं, अपितु उन सब ने एक ही स्वर में उद्घोषित किया है कि हम उसी एक अखण्ड सत्य को प्रकट कर रहे हैं जो त्रिकालाबाधित रूप से सदा विद्यमान रहा है।

भगवान् महावीर कहते हैं—"जो जिन अरिहन्त भगवन्त भूतकाल में हुए, वर्तमान काल में हैं, भविष्य में होंगे—उन

सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा, एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी और वह यह कि—"सब्बे जीवा न हन्तव्वा"; अर्थात्—"किसी जीव की हिंसा मत करो, किसी को मत सताओ और न किसी के पराधीन बनो एवं न किसी को पराधीन बनाओ।"

भगवान् बुद्ध ने कहा—"भिक्षुको ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है। एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीन-काल के अरिहन्तों द्वारा अपनाया गया था, मैं उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्वों का रहस्य मिला।"

ऋग्वेद का मंत्र है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति," अर्थात्—"सत् एक है, विद्वान् अनेक प्रकार से उसका प्रतिपादन करते हैं।"

जगत् के समस्त धर्म, धर्म नहीं हैं, अपितु धर्म की व्याख्याएँ संपूर्ण सत्य नहीं हैं, सत्य की खोजें हैं। ये सब सत्य के अनुधान हैं। समन्वित रूप में अखण्ड सत्य का दिशानिर्देश करते हैं।

जैनधर्म उसे ही अनेकान्त धर्म कहता है, वही पूर्ण है और शाश्वत है, क्योंकि अनेकांत में ऐकान्तिक आग्रह नहीं। आग्रह का यह फल हुआ कि आज धर्म की सात सौ व्याख्याएँ हमारे भारतवर्ष में उपलब्ध हैं, किन्तु वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं और उनके मानने वाले भी भिन्नता की ओर बहे जा रहे हैं। धर्म के उस परमैक्य और असहमत-संगम से हम दूर होते जा रहे हैं। निश्चित है, एक-पक्षीयता अधूरेपन को सदा से जन्म देती आई है, अन्यथा धर्मों का मतभेद और विवाद आग्रह पर खड़ा न

होकर स्वरूप पर खड़ा होता, सत्य और तत्त्व पर आधारित होता। वस्तुतः स्वरूप से समस्त धर्म एक हैं।

भगवान् महावीर ने अपने युग के तीन-सौ-त्रेसठ धर्मों का वर्णन किया है, जिनमें कुछ क्रियावादी और कुछ विनयवादी एवं कुछ अज्ञानवादी सम्प्रदायें थीं। पर उनमें समन्वय नहीं था, यही एक सबसे बड़ी भूल रही है कि धर्म के एक पक्ष पर हम बल दे देते हैं और दूसरे पक्ष से हम पीछे रह जाते हैं। इसी से आग्रह-वृत्ति का उदय होता है। स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में भगवान् महावीर ने बताया है कि धर्म के दो पक्ष हैं—एक श्रुत और दूसरा चारित्र।

श्रुत का अर्थ—ज्ञान है और चारित्र का अर्थ-सदाचार है। ज्ञान के द्वारा विकास और उद्देश्य की खोज करना, प्राप्ति के मार्ग ढूंढ़ना और सदाचार का आशय है कि उन सम्यग्मार्गों पर चलकर लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त करना। खोज के लिए प्रकाश चाहिए जिसे ज्ञान देता है और सदाचार से हमें निर्वाण प्राप्त होता है। इसी को श्रुत-धर्म के सहायक रूप में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म आदि दस भेदों को भी धर्म का रूप दिया गया है। धर्म का वास्तविक उद्देश्य बहिर्मुखता से हमें अन्तर्मुखी बनाना है। हमारा सर्वस्व शरीर नहीं बल्कि आत्मा है। शरीर का सुख काम्य-सुख है, किंतु हमारा अपना सुख काम्य सुख नहीं हो सकता, क्योंकि वह नाशशील है। इसीलिए जगत् के वे तमाम धर्म, जो हमें बलि के द्वारा स्वर्गीय सुखों का आश्वासन बंधाते हैं, वे आध्यात्मिक आनन्द के परमोद्देश्य को प्राप्त करने वाले साधकों के लिए

ग्राह्य नहीं हैं । उनको तो आत्मा का आनन्द चाहिए । आनन्द और सुख में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि सुख ऐन्द्रीय होता है और आनन्द आध्यात्मिक ।

आध्यात्मिक आनन्द नित्य, शाश्वत और ध्रुव है । आनन्द की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा स्वभाव-विपरीतता और विभावों की प्रधानता है । भगवान् महावीर ने फरमाया है—"अज्ञान से मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से अव्रत और अव्रत से प्रमाद एवं प्रमाद से कषाय—ये सब विभाव हैं । इन विभावों ने ही आत्मा के असीम आनन्द और अनन्त ज्ञान को दबोच लिया है । जबतक आत्मा अपने स्वरूप को पा नहीं लेती, तबतक उसे जगत की विफलता का अनुभव करना ही पड़ेगा और भव-भ्रमण की व्याधि में ग्रस्त होना ही पड़ेगा ।"

श्रमण महावीर आगे फरमाते हैं—"वत्थु-सहावो धम्मो," अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, अर्थात्—आत्मा के नैसर्गिक स्वरूप को पा लेना ही धर्म है, धर्म आत्माका संगीत है । चैतन्य के ऊर्ध्वगमन की वृत्ति ही धर्म की जननी है । धर्म का वर्णन वाणी से नहीं, अपितु अनुभव से ही हो सकता है । आत्मा की विवेक और चैतन्य शक्ति ने ही दूसरे प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न अमरता की ओर प्रेरित किया है । कर्त्तव्य और आदर्श की व्याख्याएँ दी हैं, दु:ख-निवृत्ति और निर्वाण-प्राप्ति ही हमारे धर्म की लक्ष्य-सिद्धि है । आत्मा को कर्माणुओं की धूल ने ढक दिया है । इन कर्मों के बन्धनों को पहचानो और इन्हें तोड़ दो । बन्धनों को पहचानने के लिए ज्ञान की और बन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्र की

आवश्यकता है। चारित्र-रूप धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् ने कहा कि—"अहिंसा, संयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। वह उत्कृष्ट और मंगल है।" अहिंसा के विषय में हमें सावधानी से काम लेना पड़ेगा, क्योंकि अहिंसा के दो प्रकार हैं—एक निषेधात्मक और दूसरा विधायक।

अहिंसा का निषेधात्मक रूप आत्मगत समस्त प्रकार के दोषों का शमन करता है और विधायक रूप मिथ्यात्व से समकित, सुव्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग की ओर प्रेरित करता है। मानव को अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध की ओर ले चलना ही जैनधर्म का मुख्य उद्देश्य है और अहिंसा उनकी पूर्ति का साधन है। सब जीव जीना चाहते हैं, अहिंसा उनको अमरता देती है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में भगवान् ने कहा है—"अहिंसा समस्त जगत् के लिए पथ-प्रदर्शक दीपक है और डूबते प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है। यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है। पक्षियों के लिए आकाशगमन के समान हितकारिणी है और प्यासों को पानी देने के समान है। भूखों को भोजन के समान है। समुद्र में जहाज के समान है और रोगपीड़ितों को औषधि के समान है। यही नहीं, भगवती अहिंसा, इन से अधिक कल्याणकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरित, जलचर, थलचर, त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियों के लिए मंगलमय है। निस्सन्देह अहिंसा ही माता के समान समस्त प्राणियों का संरक्षण करने वाली, पाप और संताप का विनाश

करने वाली और जीवन-दायिनी है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है और इसके विपरीत हिंसा—गरल है, गरल का भण्डार है।"

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन में अहिंसा की मात्रा जितनी बढ़ती जाएगी, सुख-शान्ति एवं स्थायी कल्याण की मात्रा भी उतनी-उतनी ही बढ़ती जाएगी। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों हिंसा विकराल रूप धारण करेगी, उतना-ही-उतना जगत् का और व्यक्ति का जीवन अशान्त, संतप्त, व्याकुल और दुःखी होता जाएगा।

प्रश्न होता है—जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस प्रकार की जा सकती है? इसका उत्तर है—संयम के द्वारा। इसलिए अहिंसा के पश्चात् धर्म का दूसरा रूप संयम बतलाया गया है।

संयम का अर्थ है—इन्द्रियों और मन का दमन करना, अर्थात् उन्हें आत्म-वशीभूत करना और हिंसा-प्रवृत्ति से बचाना। संयम अहिंसा रूपी विशाल वृक्ष की एक शाखा है। अहिंसा साध्य है और संयम साधन है। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। जिसने अपनी इन्द्रियों को उच्छृंखल छोड़ दिया है, मन को बे-लगाम कर रखा है और जो प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति-शील नहीं है, वह असंयमी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता।

संयम दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी संयम। इन्द्रियों और मन को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करने

से रोककर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम, है, और षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी-संयम है।

शास्त्रों में सत्तर प्रकार का जो संयम प्रतिपादित किया गया है, उसका सार इसी में आ जाता है।

संयम के पश्चात् तप को धर्म का तृतीय रूप प्रकट किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम की साधना के लिए तपस्या अनिवार्य है। तपस्या का अर्थ है— इच्छा-निरोध। मनुष्य की इच्छाएँ अपार, असीम और अनन्त हैं। उनकी लालसा पूरी करने के लिए आप दौड़ेंगे तो दौड़ते ही चलेंगे। किन्तु वह तृष्णा पूरी नहीं हो सकती और आपकी दौड़-धूप भी समाप्त नहीं हो सकती। इच्छा-पूर्ति के लिए आपको असंयम के पाप-पथ पर चलना अनिवार्य होगा और वहाँ हिंसा-दानवी आपको अपना बना ही लेगी।

काँटों से बचने के लिए आप सम्पूर्ण भूमण्डल को चमड़े से मढ़ नहीं सकते। बुद्धिमान् मनुष्य अपने पैरों में ही जूता पहन लेता है। इसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति करना असम्भव है, अत-एव इच्छाओं पर नियंत्रण कर लेना ही आपके लिए एकमात्र सुखप्रद मार्ग है। यही तप का मार्ग है। तपोनुष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलता से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है।

जिस व्यक्ति के अन्तरंग में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी निरन्तर बहती रहती है, उसकी आत्मा इतनी निर्मल,

निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है कि देवता भी उसके चरणों में प्रणाम करके अपने को धन्य मानते हैं।

एक जैन आचार्य ने जैनधर्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बतलाया है—"जहाँ अनेकांत-दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा की गई है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओं का विचार करके संपूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गई है, खण्डित सत्यांशों को अखण्ड स्वरूप प्रदान किया गया है, जहाँ किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नहीं है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है और जहाँ किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना पाप माना जाता है—वही जैनधर्म है। आचार-सम्बन्धी अहिंसा, विचार-सम्बन्धी अहिंसा, अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित रूप ही जैनधर्म है।" 'जैन' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—जीतनेवाला। जो अपने विकारों को जीतता है, वह जैन है।

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन के प्रश्न को लेकर मुख्य रूप से दो प्रकार की विचारधाराएँ कार्य कर रही हैं। एक विचारधारा के अनुसार धर्म और दर्शन अभिन्न हैं। दूसरी विचारधारा इस मत से सर्वथा विपरीत है। वह इस मत की पुष्टि करती है कि धर्म और दर्शन का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म का क्षेत्र अलग है और दर्शन का क्षेत्र उससे बिल्कुल भिन्न है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। धर्म का सम्बन्ध मानव के हृदय से है और दर्शन का बुद्धि से।

हर्मन का कहना है कि—धार्मिक व्यक्ति का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि दर्शन की कौन-सी शाखा ईश्वरवाद का समर्थन करती है और कौन-सी अनीश्वरवाद का। हीगल का कथन ठीक इससे विपरीत है। उसके मतानुसार धर्म की मान्यता दर्शन से ही जानी जा सकती है। इस प्रकार परस्पर विरोधी विचार-धाराओं को देखने से यही मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण से भिन्न-भिन्न विचारकों ने धर्म और दर्शन की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है।

भले ही पाश्चात्य विद्वान् धर्म और दर्शन को अलग-अलग मानते हों, किन्तु भारतीय दार्शनिक इस मत को स्वीकार नहीं करते। भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि धर्म और दर्शन सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते। क्योंकि जब एक व्यक्ति श्रद्धा-प्रधान बन जाता है, तो हम उसे धार्मिक कहते हैं, पर वही व्यक्ति जब बुद्धि-प्रधान हो जाता है, तो उसे दार्शनिक कहा जाता है। धर्म मनुष्य को आचार की ओर ले जाता है और दर्शन इसे विचार की ओर।

धर्म और दर्शन कथंचित् भिन्न भी हैं। क्योंकि दर्शन मनुष्य को तर्कशील बनाता है। दार्शनिक दृष्टिकोण शुद्ध रूप से बौद्धिक होता है, जब कि धार्मिक श्रद्धा का मूलाधार भावुकता है।

धर्म पर जब किसी प्रकार का बाह्य संकट आता है, तब उस समय दर्शन उसे बचाने के लिए सब से पहले आगे आता है। दर्शन की सहायता के बिना धर्म अधिक काल तक नहीं टिक सकता। जिस श्रद्धा के पीछे तर्क का बल नहीं रहता वह चिर-

स्थायी नहीं हो सकती। तर्क की कसौटी पर कसी हुई श्रद्धा ही चिरकाल तक जीवित रह सकती है। धर्म और दर्शन का इस प्रकार का सम्बन्ध होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि—दर्शन धर्म की प्रत्येक मान्यता को अपने तर्क-बल से सिद्ध कर सकता है। और दर्शन में मौलिक एकता होते हुए भी दोनों के साधनों में कुछ अन्तर है। मानव जीवन की दो मुख्य शक्तियाँ—श्रद्धा और तर्क में से एक का आधार श्रद्धा है और दूसरे का आधार तर्क है। एक का आधार विचार-शक्ति है और दूसरे का आधार भावुकता है।

धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान—दोनों का मानव-जीवन में बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रकृति की खोज का नाम विज्ञान है और आत्मा की खोज का नाम धर्म है। विज्ञान मनुष्य को बहिर्मुखी बनाता है और धर्म मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाता है। विज्ञान और धर्म में इतना भेद होते हुए भी उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। आज हम धर्म और विज्ञान के बीच जो कलह या संघर्ष देखते हैं, वास्तव में धर्म और विज्ञान का संघर्ष नहीं है, किन्तु उन दो वस्तुओं के बीच एक प्रकार का सामञ्जस्य भी मिल सकता है, यदि दृष्टि उदार और विशाल हो तो। दोनों की अपनी-अपनी दृष्टि है और उसी दृष्टि के आधार पर धर्म और विज्ञान को परखना चाहिए। साधारणतया यह माना जाता है कि धर्म आन्तरिक अनुभव को अपना आधार बनाकर चलता है और विज्ञान बाह्य अनुभव पर खड़ा होता है। धर्म और विज्ञान

में एक विशेष अन्तर यह भी है कि विज्ञान का सम्बन्ध वस्तु के अस्तित्व धर्म से ही होता है। विज्ञान वस्तु को 'क्या है'—केवल इसी रूप में ग्रहण करता है, जब कि धर्म इस 'क्या है' के साथ-ही-साथ 'क्या मूल्य है'—इस सत्य को भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है।

धर्म की साधना

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी-धारा सीधी मुक्ति की ओर बही जा रही है, किन्तु मानव अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई में प्रवेश करता है। उद्देश्य सिद्धि के सही पथ को पहचान लेना ज्ञान की बात रही और उस पर विश्वास प्रकट करना श्रद्धा की बात, किन्तु चलना तो अपनी-अपनी शक्ति पर ही निर्भर है।

कोई मन्द-गति से चल पाता है, किन्तु कोई तीव्र-गति से चलने में समर्थ होता है। तीव्र चलने वाले को अपनी तमाम मनोवृत्तियों को केन्द्रित, इन्द्रियों को नियंत्रित तथा उपाधि को स्वल्प-स्वल्पतर करके भागना पड़ता है। यदि भागना सम्भव नहीं हो तो मन्द-मन्द चलना सुविधानुसार भी हो सकता है। भगवान् महावीर ने यही तथ्य यों व्यक्त किया है—

"दुविहे धम्मे पण्णत्ते—अगार-धम्मे, अणगार-धम्मे य।"

धर्म, अर्थात् मुक्ति-मार्ग पर चलने के दो प्रकार हैं—
१. अगार-धर्म २. अनगार-धर्म।

गृहस्थी में रहते हुए और पारिवारिक, सामाजिक एवं

राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को निभाते हुए मुक्ति-मार्ग की साधना करना "अगार-धर्म' है। जिसे श्रावक-धर्म या गृहस्थ-धर्म में पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय-उत्तरदायित्वों का सम्यक् पालन और वहन करने के लिए भगवान् महावीर ने दशविध धार्मिक विधान भी बतलाया है कि—

"दसविहे धम्मे पण्णत्ते—गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पाषण्ड-धम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुत्तधम्मे, चारित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।" —स्थानांग सूत्र

धर्म दश प्रकार का है—ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, व्रतधर्म, गणधर्म, संघधर्म, सूत्रधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकायधर्म-जीवनधर्म।

इस दश-विध धर्म का जीवन में साक्षात्कार करने के लिए दश-विध धर्मस्थविर-धर्मनायकों की भी व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार जैनधर्म को 'जीवनधर्म' बनाने के लिए जैन गृहस्थ को ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का सम्यक् पालन आवश्यक बतलाया गया है। जो विशिष्ट साधक गृह-त्याग कर साधु-जीवन अंगीकार करते हैं, पूर्ण अहिंसा और सत्य की आराधना के लिए अस्तेय को, ब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह को अंगीकार करते हैं, उनका आचार 'अनगार धर्म' कहलाता है।

यद्यपि श्रावक और साधु मुक्ति की साधना के लिए जिन व्रतों का पालन करते हैं, वे मूलतः एक ही हैं, परन्तु दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं। अतः उनके व्रत-पालन की मर्यादा

में भी भिन्नता होती है। समस्त लौकिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर, संयम और त्याग में ही रमण करने वाला साधु जिन अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालता है, श्रावक उन्हें आंशिक रूप में पाल सकता है। इस प्रकार योग्यता-भेद के कारण ही 'अगार-धर्म' का भेद किया गया है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालने वाला साधक, साधु या महाव्रती कहलाता है और आंशिक रूप में पालन करने वाला साधक श्रावक कहलाता है।

व्रत की परिभाषा

जीवन को सुघड़ बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं। अथवा जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, जो प्राणी मात्र के हित के लिए हितावह हैं और जिनसे स्व-पर का हित साधन होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जा सकता है। अपने जीवन में अथवा अनुभव में आने वाले दोषों को त्यागने का जब दृढ़ संकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती है।

व्रत की आवश्यकता

सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियन्त्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार जीवन को नियंत्रित, मर्यादित और प्रगतिशील बनाए रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे किनारों के अभाव में प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रत-विहीन मनुष्य की जीवन-शक्ति भी

छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन-शक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

आकाश में ऊँचा उड़ने वाला पतंग सोचता है—"मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है? यह बन्धन न हो तो मैं स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हूं।" किन्तु हम जानते हैं कि डोर टूट जाने पर पतंग की क्या हालत होती है। डोर टूटते ही पतंग के उन्मुक्त व्योम-विहार का स्वप्न भंग हो जाता है और उसे धूल में मिलना पड़ता है। इसी प्रकार जीवन-पतंग को उन्नत रखने के लिए व्रतों की डोर के साथ बन्धे रहने की आवश्यकता है।

गृहस्थ धर्म

जैन-शास्त्र का विधान है—'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात्—"चारित्र ही धर्म है।" चरित्र क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

"असुहाओ विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं"

अर्थात्—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना 'चारित्र' कहलाता है। वस्तुतः सम्यक् चारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है। सदाचार-हीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है।

चारित्र-धर्म के नियम गृहस्थ-वर्ग और त्यागी के लिए पृथक्-पृथक् बतलाये गए हैं। गृहस्थ-वर्ग के लिए बतलाये गए व्रतों का

अर्थात् श्रावक-धर्म का, यहाँ संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

१. अहिंसा-अणुव्रत—पहला व्रत स्थूल प्राणातिपात-विरमण अर्थात् जीवों की हिंसा से विरत होना है। संसार में दो प्रकार के जीव हैं—स्थावर और त्रस। जो जीव अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने में असमर्थ हैं, वे 'स्थावर' कहलाते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—यह पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं। इन जीवों को केवल स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं।

सुख-दुःख के प्रसंग पर जो जीव अपनी इच्छा के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं, जो चलते-फिरते और बोलते हैं, वे 'त्रस' जीव कहलाते हैं। इन त्रस जीवों में कोई दो इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं। संसार के समस्त जीव 'त्रस' और 'स्थावर' विभागों में सम्मिलित हो जाते हैं।

मुनि दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते, अतएव उनके लिए स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है। निरपराध त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है।

जैन-शास्त्रों में हिंसा चार प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—(१) आरम्भी हिंसा, (२) उद्योगी हिंसा, (३) विरोधी हिंसा

और (४) संकल्पी हिंसा। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. आरम्भी हिंसा—जीवन-निर्वाह के लिए, आवश्यक भोजन-पान के लिए और परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा 'आरम्भी हिंसा' कहलाती है।

२. उद्योगी हिंसा—गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिए कृषि तथा गो-पालन, व्यापार आदि उद्योग करता है और उन उद्योगों में हिंसा की भावना न होने पर भी जो हिंसा होती है, वह उद्यमी या 'उद्योगी हिंसा' कहलाती है।

३. विरोधी हिंसा—अपने प्राणों की रक्षा के लिए, कुटुम्ब-परिवार की रक्षा के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए की जाने वाली हिंसा 'विरोधी हिंसा' कहलाती है।

४. संकल्पी हिंसा—किसी निरपराधी प्राणी को जान-बूझकर मारने की भावना से हिंसा करना 'संकल्पी हिंसा' कहलाती है।

उपर्युक्त चार प्रकार की हिंसा में गृहस्थ पहले व्रत में संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा में यथाशक्ति त्याग करके अहिंसा व्रत का पालन करता है।

अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच प्रकार के दोषों से बचते रहना चाहिए—

(१) किसी जीव को मारना, पीटना अथवा त्रास देना।

(२) किसी का अंग-भंग करना, अपंग बनाना या विरूप करना।

(३) किसी को बन्धन में डालना, जैसे—तोते को पिंजरे में बन्द करना, कुत्तों को रस्सी से बाँधना, साँप को पिटारे में बन्द कर देना। ऐसा करने से उन प्राणियों की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हें व्यथा पहुँचती है।

(४) घोड़े, बैल, खच्चर, गधे आदि जानवरों पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरों से अधिक काम लेना।

(५) अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन-पानी न देना तथा रात्रि-भोजन आदि समस्त दोषों का त्याग 'अहिंसा अणुव्रत' की भावना में आवश्यक है।

२. सत्य-अणुव्रत —स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना और सूक्ष्म असत्य के प्रति सदैव सावधान रहना 'द्वितीय व्रत' है।

यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिस असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोक-निन्दनीय और राज-दण्डनीय है वह असत्य स्थूल असत्य कहलाता है। श्रावक ऐसे स्थूल असत्य-भाषण का त्याग करता है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची-झूठी कहकर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा करना आदि स्थूल मृषावाद में सम्मिलित हैं। इस व्रत का भली

भाँति पालन करने के लिए इन पाँचों बातों से बचना चाहिए, जैसे कि—

(१) दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना।

(२) किसी की गुप्त बात प्रगट करना।

(३) पत्नी आदि के साथ विश्वासघात करना।

(४) दूसरे को गलत सलाह देना।

(५) जालसाजी करना, झूठे दस्तावेज़ आदि लिखना।

३. अचौर्य अणुव्रत—मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा न लेना 'अचौर्य-अणुव्रत' कहलाता है। चोरी भी दो प्रकार की होती है--स्थूल चोरी और सूक्ष्म चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है और जो चोरी लोक में चोरी के नाम से विख्यात है वह स्थूल चोरी है। रास्ते में चलते-चलते तिनका या कंकर उठा लेना या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त किए बिना ग्रहण कर लेना 'सूक्ष्म चोरी' है। गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण चोरी का त्याग करना कठिन है, तथापि स्थूल चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। सेंध लगाना, जेब काटना, डाका डालना, सूद के बहाने किसी को लूट लेना आदि स्थूल चोरी के अन्तर्गत है। अचौर्याणुव्रत को इन पाँच बातों से बचना चाहिए:—

(१) चोरी का माल खरीदना।

(२) चोर को चोरी में सहायता देना।

(३) राज्य या राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करना, जैसे उचित 'कर' न देना आदि ।

(४) न्यूनाधिक नाप-तोल करना ।

(५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना ।

४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत—काम-भोग एक प्रकार का मानसिक रोग है। उसका प्रतिकार भोग से नहीं हो सकता। यह समझकर मानसिक बल, शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिए संभोग से सर्वथा बचना पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं कर सकता, उसे कम-से-कम पर-स्त्रीगमन का त्याग तो करना ही चाहिए। इस प्रकार पर-स्त्रीत्याग और स्व-स्त्री से सन्तोष करना 'ब्रह्मचर्य-अणुव्रत' है ।

संभोग की प्रक्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों का वध होता है। इससे राग, द्वेष और मोह की वृद्धि होती है। वह समस्त पापों का मूल है। अतएव जो गृहस्थ उसे अपनी पत्नी तक सीमित कर लेता है और पत्नी में भी अत्यासक्ति नहीं रखता, वह अन्त में काम-वासना पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मचर्याणुव्रती को निम्नलिखित पाँच बातों से सदैव बचना चाहिए—

(१) किसी रखैल आदि के साथ कुसम्बन्ध स्थापित करना।

(२) कुमारी या वेश्या आदि के साथ गमन करना ।

(३) अप्राकृतिक रूप से मैथुन सेवन करना ।

(४) अपना दूसरा विवाह करना तथा दूसरों के विवाह-

सम्बन्ध स्थापित करते फिरना।

(५) काम-भोग की तीव्र अभिलाषा रखना।

५. **परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत**—परिग्रह संसार का बड़े-से-बड़ा पाप है। आज संसार के समक्ष जो जटिल समस्याएं उपस्थित हैं, सर्वव्यापी वर्ग-संघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह-मूर्छा की देन है। जब तक मनुष्य के जीवन में अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। अतएव परिग्रह की सीमा कर लेना आवश्यक है।

यही परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत कहलाता है। यदि इस अणुव्रत का व्यापक रूप से पालन किया जाय तो भूमण्डल को स्वर्गधाम बनने में पलभर की भी देर न लगे। सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाए। इस अणुव्रत का पालन करने के लिए लिए निम्नलिखित पाँच दोषों से सदैव बचना आवश्यक है—

(१) मकानों, दुकानों तथा खेतों की मर्यादा को भंग करना।

(२) द्विपद (नौकर) तथा चतुष्पद (गाय, घोड़ा आदि) के परिमाण का उल्लंघन करना।

(३) सोने-चाँदी आदि के परिमाण को भंग करना।

(४) मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भंग करना।

(५) दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्त्र, पात्र, आसन आदि वस्तुओं के परिमाण का उल्लंघन करना।

पूर्वोक्त पाँच अणुव्रत गृहस्थ के मूलव्रत हैं। उनका भली-भाँति आचरण करने के लिए कुछ और व्रतों की भी आवश्यकता होती है, उन्हें उत्तरव्रत कहते हैं। इनको भी दो भागों में विभक्त किया गया है—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रतों की संख्या तीन और शिक्षाव्रतों की संख्या चार है। यह सब मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं, जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

६. दिग्व्रत—मनुष्य की अभिलाषा आकाश-सी असीम और अग्नि की तरह वह समग्र भूमण्डल पर अपना एक-छत्र साम्राज्य स्थापित करने का मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, वरन् उस स्वप्न को साकार करने के लिए विजय-अभियान भी करती है। अर्थ-लोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है। विदेशों में व्यापार-संस्थान स्थापित करता है और इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मनुष्य की इस निरंकुश तृष्णा को नियन्त्रित करने के लिए दिग्व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत का धारक श्रावक समस्त दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करता है और उससे बाहर सब प्रकार के व्यापारों का त्याग कर देता है।

७. उपभोग-परिभोग-परिमाण—एक बार भोगने योग्य आहार आदि उपभोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनः-पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्र, पात्र आदि को परिभोग कहते हैं। इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बाँध लेना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागों

में विभक्त किया गया है। भोज्य-पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है। व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने से पाप-पूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है।

८. अनर्थदण्डत्याग—बिना प्रयोजन हिंसा करना अनर्थदण्ड कहा जाता है। विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करती है। वे चार प्रकार इस भाँति हैं—

१. अपध्यान—दूसरे का बुरा विचारना।

२. प्रमादाचरित—जाति कुल आदि की गर्वपूर्ण भावना व्यक्त करना तथा विकथा, निन्दा आदि करना।

३. हिंसा-प्रदान—हिंसा के साधन; जैसे—तलवार, बन्दूक, बम आदि का निर्माण करके दूसरों को देना, संहारक शस्त्रों का आविष्कार करना।

४. पापोपदेश—पाप-जनक कार्यों का उपदेश देना।

इस व्रत को अंगीकार करने वाला साधक काम-वासना-वर्द्धक वार्तालाप नहीं करता, कामोत्तेजक कुचेष्टाएँ नहीं करता। असभ्य, अभद्र वचनों का प्रयोग नहीं करता, हिंसाजनक शस्त्रों के आविष्कार, निर्माण या विक्रय में भाग नहीं लेता और भोगोपभोग के योग्य पदार्थों में अधिक आसक्त नहीं होता।

९. सामायिक व्रत—मन की राग-द्वेषमय परिणति विषम-

भाव है। इस विषम-भाव को दूर करके जगत् के समस्त पदार्थों में तटस्थ भाव एवं समभाव स्थापित करना ही जैन-साधना का उद्देश्य है। क्योंकि समभाव के अभाव में सच्ची शान्ति का लाभ नहीं हो सकता, इसी कारण आर्हती-साधना का चरम उद्देश्य 'समता' को केन्द्र मानकर मुक्ति की ओर गया है।

समभाव को प्राप्त करने, विकसित करने और स्थायी बनाने के लिए जिस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है, वह सामायिक व्रत है। इस व्रत की आराधना का अड़तालीस मिनट निर्दिष्ट किया गया है। इस काल में गृहस्थ श्रावक को समस्त पापमय व्यापारों का त्याग करके आत्म-चिन्तन करना चाहिए। सामायिक के समय में प्राप्त हुई समभाव की प्रेरणा को जीवन-व्यापी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

१०. **देशावकाशिक व्रत**—दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिये किये गये दिशाओं के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना और उस परिमाण से बाहर समस्त पापकार्यों का त्याग करना 'देशावकाशिक व्रत' है।

११. **पौषध व्रत**—जिससे आत्मिक गुणों या धर्म-भाव का पोषण होता है, वह 'पौषध व्रत' कहलाता है। इस व्रत का आचरण प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथियों में किया जाता है। एक रात-दिन उपवास करना, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्त्व-चिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय एवं आत्म-रमण करना और सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से छुटकारा लेकर साधु-

सरीखी वृत्ति धारण कर लेना, इस व्रत की चर्या है।

१२. अतिथि-संविभाग व्रत—जिनके आने का समय नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण पहले सूचना दिए बिना आते हैं। उन्हें संयमोपयोगी आहार आदि का दान करना 'अतिथि-संविभाग व्रत' कहा जाता है।

संग्रह-परायण मनोवृत्ति को कृश करने तथा त्याग की भावना जागृत एवं विकसित करने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है। 'अतिथि' शब्द से मुख्यतः साधु का अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु श्रावक का हृदय इतना उदार, सदय और दानशील होना चाहिए कि साधु के सिवाय अन्य दीन-दुःखी भी उसके द्वार से निराश होकर नहीं लौटना चाहिए।

इन बारह व्रतों का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, सामाजिक न्याय तथा स्व-पर सुख की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गृहस्थ यदि बारह व्रतों की मर्यादाओं का यथाविधि पालन करे तो संसार स्वर्ग बन सकता है और प्रत्येक प्राणी के साथ बन्धुत्व भाव स्थापित होने से अपूर्व शान्ति का वायुमण्डल निर्मित हो सकता है।

मुनि-धर्म :

वय और योग्यता—विश्व के समस्त धर्म त्याग को प्रधानता देते हैं। परन्तु जैनधर्म ने त्याग की जो मर्यादाएँ स्थापित की हैं, वे असाधारण हैं। वैदिकधर्म के समान जैनधर्म ने त्यागमय जीवन अंगीकार करने के लिए वय-विशेष का कोई निर्धारण नहीं किया है।

वह यह नहीं कहता कि जीवन के तीन चरण बीतने के बाद अन्तिम चौथा चरण संन्यास के लिए है। जीवन क्षणभंगुर है और कोई नहीं जानता कि कौन जीवन के चारों चरण समाप्त कर सकेगा और कौन नहीं ? मृत्यु मनुष्य के मस्तक पर सदैव मंडराती रहती है और किसी भी क्षण जीवन का अन्त आ सकता है। यही कारण है कि जैन-शास्त्र आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते।

वय पर जोर न देने पर भी जैन-शास्त्रों में त्यागमय जीवन अंगीकार करने वाले व्यक्ति की योग्यता अवश्य निर्धारित कर दी गई है। जिसे शुभ तत्त्व-दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग को रोग और इन्द्रिय-विषयों को विष समझ चुका है और जिसके मानव-सर में वैराग्य की उर्मियां लहराने लगी हैं, वही त्यागी बनने के योग्य है।

पूर्णतः विरक्त होकर, शरीर-सम्बन्धी ममत्व का भी परित्याग करके जो आत्म-आराधना में ही संलग्न रहना चाहता है, वह मुनिधर्म अंगीकार करता है।

समाज का रक्षक, राष्ट्र का सैनिक और परिवार का पोषक बनकर ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। उसे इन कर्तव्यों से भी पार होकर जीवन के अन्तिम मार्ग को अकेले होकर ही पार करना पड़ता है। तभी आत्मा को सर्वोच्च सिद्धि का लाभ होता है। चरम साधना के बीहड़ पथ पर एकाकी चल पड़ने

वाला साधक ही मुनि, श्रमण, साधु, भिक्षु या त्यागी कह-लाता है।

श्रमणत्व की उच्च भूमिका स्पर्श करने के लिए गृह-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, मगर यही पर्याप्त नहीं है। सच्चा श्रमण वही है जो जीवन में गहरी जड़ जमाये हुए आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा जिसके लिए मान-अपमान, निन्दा-स्तुति और जीवन-मरण एकाकार हो जाते हैं, वह तिरस्कार के गरल को अमृत बनाकर पी जाता है। मगर कटुक वचन बोलकर किसी का तिरस्कार नहीं करता। वह अनीह और अनासक्त रहकर भी सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना मानता है और संसार के जीवों को मैत्री और करुणा प्रदान करता है। वह चलती-फिरती संस्था बनकर जगत में आध्यात्मिकता की उज्ज्वल ज्योति प्रज्ज्वलित रखता है।

श्रमण का अहम् इतना विराट रूप धारण कर लेता है कि किसी भी कृत्रिम परिधि में वह समा नहीं सकता। इसलिए वह राष्ट्रीय अहम् का समर्थन नहीं करता। उसके आगे यह सब मनोवृत्तियाँ संकीर्ण हैं, अवास्तविक हैं। अखण्ड जीवन के प्रति उसकी आस्था है, विभिन्न रंग-रूपों में बंटी टुकड़ियों में नहीं।

साधु संसार की भलाई से कभी विमुख नहीं होता, परन्तु उसका प्रतिफल पाने की किसी भी प्रकार की कामना नहीं करता। वह अपनी पीड़ा को वरदान मानकर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, किन्तु पर-पीड़ा उसके लिए असह्य होती है।

यह सत्य है कि उसकी साधना का केन्द्र-बिन्दु आत्मोत्थान ही है, किन्तु लोक-कल्याण उसके आत्मोत्थान का साधन होता है। आत्म-कल्याण के उद्देश्य से लोक-कल्याण करने वाले के चित्त में अहंकार उत्पन्न नहीं होता और इस प्रकार साधु अपनी साधना को कलुषित होने से बचा लेता है; क्योंकि उसके मन में यह भाव बराबर बना रहता है कि मैं अपनी भलाई के लिए दूसरों की भलाई कर रहा हूँ। वस्तुत: जैन-साधु वह नौका है, जो स्वयं तैरती है और दूसरों को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते हैं—'साधुओ ! श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए लाघव—कम-से-कम साधनों से निर्वाह करना; निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूर्च्छा, अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता, अक्रोधता, निष्कपटता और निर्लोभता ही प्रशस्त है।

इस प्रकार की साधना के द्वारा साधु अपने जन्म-मरण का अन्त करता है और पूर्ण सिद्धि लाभ कर परमात्म-पद प्राप्त कर लेता है। यों तो जैन-शास्त्रों में साधु के आचार-विचार की प्ररू-पणा बहुत विस्तार से की गई है, जिसका संक्षिप्त वर्णन करने पर भी कई पुस्तकें बन सकती हैं। फिर भी यहाँ संक्षेप में उसका दिग्दर्शन कराना उचित है।

पाँच महाव्रत—पाँच महाव्रत साधुत्व की अनिवार्य शर्तें हैं। इनका भलीभाँति पालन किए बिना कोई साधु नहीं कहला सकता। वे महाव्रत इस प्रकार हैं—

१. **अहिंसा महाव्रत** जीवन-पर्यन्त त्रस और स्थावर सभी

जीवों की मन-वचन-काय से हिंसा न करना, दूसरों से भी न न कराना और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना, 'अहिंसा महाव्रत' है।

साधु का मन अमृत का कुण्ड, वाणी अमृत का प्रवाह और काया अमृत की देह के समान होती है। प्राणिमात्र पर वह अखंड करुणा की वृष्टि करता है। अतएव वह निर्जीव अचित्त जल का सेवन करता है। अग्निकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिए अग्नि का उपयोग नहीं करता। पंखा आदि हिलाकर वायु की उदीर्णता नहीं करता। कन्द, मूल, फल आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का स्पर्श तक नहीं करता। पृथ्वीकाय के जीवों की रक्षा के लिए जमीन खोदने आदि की क्रियाएँ नहीं करता। महाव्रतधारी स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवों की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है।

२. सत्य महाव्रत—मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य का आचरण करना और सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना—'सत्य महाव्रत' है।

आत्म-साधक पुरुष सत्य को भगवान् मानता है। वह मन, वचन या काया से कदापि असत्य का सेवन नहीं करता। उसे मौन रहना प्रियतर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। वह बिना सोचे-विचारे नहीं बोलता। हिंसा को उत्तेजना देने वाला वचन नहीं निकालता। हँसी-मजाक आदि बातों से,

जिनके कारण असत्य-भाषण की सम्भावना रहती है, सदैव दूर रहता है।

३. अचौर्य महाव्रत—मुनि संसार की कोई भी वस्तु उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना ग्रहण नहीं करता, चाहे वह शिष्य आदि हो, चाहे वह निर्जीव घास आदि हो। दांत साफ करने के लिए तिनका जैसी तुच्छ चीज भी आज्ञा लिए बिना ग्रहण नहीं करता।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत—साधक कामवृत्ति और भोग-वासना का पूर्ण नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिए अनेक नियमों का कठोरता से पालन करना आवश्यक होता है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—जिस मकान में स्त्री का निवास हो, उसमें न रहना।
२—स्त्री के हाव-भाव, विलास आदि का वर्णन न करना।
३—स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना।
४—स्त्री के अंगोपांगों को स्थिर दृष्टि से न देखना।
५—स्त्री-पुरुष के कामुकतापूर्ण शब्द न सुनना।
६—अपने पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है।
७—सरस, पौष्टिक, विकार-जनक, राजस और तामस आहार न करना।

५. अपरिग्रह महाव्रत—साधु परिग्रह-मात्र का त्यागी होता है, फिर भले ही वह घर हो, धन-धान्य हो या द्विपद-चतुष्पद हो या कुछ अन्य हो। वह सदा के लिए मन, वचन, काय से समस्त परिग्रह को छोड़ देता है। पूर्ण असंग-अनासक्त, अपरिग्रह और अममत्वी होकर विचरण करता है। साधुता का पालन करने के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उनके प्रति भी उसे ममत्व नहीं होता।

यद्यपि मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थों के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थ का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

पाँच समिति :

जैन-शास्त्रों में पाँच प्रकार की समिति का विवेचन किया गया है; जैसे—१. ईर्या समिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणा समिति और ५. पारिष्ठापनिका समिति। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. ईर्या समिति—युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना 'ईर्या समिति' है। ईर्या का अर्थ—गमन होता है, अतः गमन-विषयक सत्प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहते हैं।

२. भाषा समिति—आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए यतनापूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः

हित-मित-सत्य एवं स्पष्ट वचन कहना 'भाषा-समिति' कहलाती है।

३. एषणा समिति—गोचरी के बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार-पानी तथा वस्त्र-पात्र आदि उपधि ग्रहण करना, 'एषणा समिति' है।

४. आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि (भाण्डमात्र) उपकरणों को उपयोग पूर्वक (आदान) ग्रहण करना एव जीव रहित प्रमार्जित भूमि पर (निक्षेपण) रखना, 'आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति' होती है।

५. पारिष्ठापनिका समिति—मल-मूत्र आदि या भुक्त-शेष भोजन तथा भग्न पात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीव-रहित एकान्त स्थण्डिल भूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों—ऐसी उचित यतना कर देना, 'परिष्ठापनिका समिति' कहलाती है।

तीन गुप्ति :

जैन-शास्त्रों में तीन प्रकार की गुप्तियों का वर्णन किया गया है; जैसे—१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति, और ३. कायगुप्ति। गुप्ति का अर्थ—रक्षा करना होता है। अतएव मनोगुप्ति—मन की रक्षा, वचन-गुप्ति—वचन की रक्षा, कायगुप्ति—काय की रक्षा है। रक्षा का अर्थ—नियंत्रण है, अत: अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना—गुप्ति का 'स्पष्ट' अर्थ है। अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना—गुप्ति का 'स्पष्टतर' अर्थ है, और आत्म-मन्दिर में आने वाले कर्म-

रज को रोकना—गुप्ति का 'स्पष्टतम' अर्थ है। विशेष परिचय के लिए तीनों गुप्तियों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१. मनोगुप्ति—आर्त तथा रौद्र ध्यान-विषयक मन से समरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प न करना, लोक परलोक हितकारी धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना और मध्यस्थ भाव रखना, 'मनोगुप्ति' है।

२. वचनगुप्ति—वचन से संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, झूठ न बोलना, निन्दा-चुगली आदि न करना और मौन रहना 'वचनगुप्ति' है।

३. कायगुप्ति—शारीरिक, क्रिया सम्बन्धी संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्ति न करना, उठने-बैठने और चलने-फिरने-सोने आदि में संयम रखना तथा अशुभ व्यापारों का परित्याग कर यतनापूर्वक सत्प्रवृत्ति करना, 'कायगुप्ति' है।

द्वादश भावना :

मनुष्य के बाह्य व्यवहार उसके मनोभावों के मूर्तरूप होते हैं, अतएव साधना को सजीव बनाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। मन को साधने तथा श्रद्धा और विरक्ति की स्थिरता एवं वृद्धि के लिए जैन-शास्त्रों में अनुप्रेक्षाओं का विधान है। पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इसके निम्नलिखित बारह प्रकार हैं—

१. अनित्य भावना—जगत् का प्रत्येक पदार्थ नाशशील है, अनित्य है; धन, वैभव, सत्ता, परिवार आदि सब क्षणभंगुर हैं।

लक्ष्मी संध्या-कालीन लालिमा की भाँति अनित्य है। जीवन जल के बुलबुले के समान है और यौवन बादल की छाया के समान है। इनके नाश में विलम्ब नहीं लगता। इन अनित्य पदार्थों के लिए नित्य आनन्द से वंचित होना बुद्धिमत्ता नहीं है।

२. अशरण भावना—विकराल मृत्यु के पंजे में से कोई किसी को बचा नहीं सकता। अन्तिम समय में विशाल सैन्य-बल, धन के भण्डार और बृहद् परिवार कुछ काम नहीं आता। अतएव किसी पर भरोसा करना नादानी है।

३. संसार भावना—इस भावना में संसार के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है; यथा संसार में क्या राजा, क्या रंक, कोई भी सुखी नहीं है। प्रत्येक को किसी-न-किसी प्रकार का दुःख सता रहा है। सभी संसारी जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हैं। आज जो आत्मीय है, अगले जन्म में वही पराया बन जाता है और पराया अपना हो जाता है। अतएव अपने-पराए का भेद-भाव कल्पना पर निर्भर है। न कोई अपना है, न पराया है।

४. एकत्व भावना—जीव अकेला ही जन्मता, मरता और सुख-दुःख भोगता है। परलोक की महायात्रा के समय कोई किसी का साथ नहीं देता।

५. अन्यत्व भावना—जगत् के समस्त पदार्थों से आत्मा को भिन्न मानना और उस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना, अन्यत्व भावना का लक्षण है।

६. अशुचि भावना—शरीर सम्बन्धी मोह को नष्ट करने के लिए शरीर की अशुचिता-अपावनता का पुनः-पुनः चिन्तन करना वैराग्य वृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

७. आस्रव भावना—दुःखों के कारणों पर विचार करना, आस्रव भावना है। दुःखों का कारण कर्मबन्ध है। कर्मों का बन्ध किन-किन कारणों से होता है? राग, द्वेष, अज्ञान, मोह, हिंसा, असन्तोष, प्रमाद, कषाय आदि किस प्रकार आत्मा को कर्मों से लिप्त कर देते हैं? आदि चिन्तन आस्रव भावना है।

८. संवर भावना—दुःखों एवं कर्म बन्ध के कारणों का किस प्रकार निरोध किया जा सकता है? यह चिन्तन करना संवर-भावना है।

९ निर्जरा भावना—जो कर्म पहले बन्ध चुके हैं, उन्हें किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है, इस प्रकार का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

१०. लोक भावना—लोक के पुरुषाकार स्वरूप का चिन्तन करना लोक भावना है।

११. बोधि-दुर्लभ भावना—जिससे आत्मा का उत्थान होता है, जिससे सार-असार का विवेक प्राप्त होता है और जिसके द्वारा आत्मा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ बनता है, वह ज्ञान 'बोधि' कहलाता है। ऐसे ज्ञान की दुर्लभता का विचार करना बोधि-दुर्लभ-भावना है।

१२. धर्म भावना—धर्म के स्वरूप का और उसकी महिमा का चिन्तन करना धर्म भावना है।

चार भावना :

उपर्युक्त बारह भावनाओं के अतिरिक्त साधक के जीवन को उन्नति के शिखर की ओर ले जाने के लिए चार भावनाएँ और भी हैं—१. मैत्री, २. प्रमोद, ३. करुणा और ४. मध्यस्थ।

१. मैत्री भावना—तब तक साधक के अन्तःकरण में प्राणि-मात्र के प्रति मैत्री का भाव विकसित नहीं होता, जब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता। दूसरों के प्रति आत्मीयता के भाव की स्थापना और अपनी तरह दूसरों को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा इच्छा, 'मैत्री' कहलाती है। मैत्री भावना का विकास होने पर मनुष्य दूसरे का कष्ट देखकर छटपटाने लगता है और उसका निवारण करने के लिए कोई कसर नहीं रखता है।

मनुष्य की हृदय-भूमिका जब मैत्री भाव से सुसंस्कृत हो जाती है, तभी उसमें अहिंसा, सत्य आदि के पौधे पनपने लगते हैं। उसके अन्तःकरण से अनायास ही यह शब्द फूट पड़ते हैं—

"मित्ती मे सव्वे भूएसु।
वेरं मज्झं ण केणई॥'

अर्थात्—"इस भूतल पर बसने वाले प्राणी—चाहे वे मनुष्य हों, पशु-पक्षी हों अथवा कीट-पतंग हों, मेरे मित्र हैं। कोई मेरा शत्रु नहीं है, क्योंकि संसार के समस्त प्राणियों के साथ मेरा अनन्त-अनन्त बार आत्मीयता का सम्बन्ध हो चुका है।"

इस प्रकार की मैत्रीभावना की परिधि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, आत्मा में समभाव का विकास होता चला जाता है और राग-द्वेष का बीज क्षीण होता चला जाता है। अन्त में मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है, जहां जीव मात्र में आत्म-दर्शन होने लगता है। उस स्थिति में हिंसा या पर-पीड़ा के लिए कोई अव-काश नहीं रहता।

२. प्रमोद भावना—गुणी-जनों को देखकर अन्त:करण में उल्लास होना प्रमोद भावना कहलाती है। प्राय: मनुष्य में एक मानसिक दुर्बलता देखी जाती है। वह यह है कि एक मनुष्य अपने से आगे बढ़े हुए मनुष्य को देखकर ईर्ष्या करता है। यही नहीं, कभी-कभी ईर्ष्या से प्रेरित होकर वह उसे गिराने का भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्ति का नाश न हो जाए, अहिंसा और सत्य टिक नहीं सकते। इस दुर्वृत्ति को नष्ट करने के लिए प्रमोद भावना का विधान किया गया है।

३. कारुण्य भावना—पीड़ित प्राणी को देखकर हृदय में अनु-कम्पा होना और पीड़ा का निवारण करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना कारुण्य-भावना कहलाती है। करुणा भावना के अभाव में अहिंसा आदि व्रत सुरक्षित नहीं रह सकते। मन में जब करुणा भावना सजीव हो उठती है तो मनुष्य अपने किसी व्यवहार अथवा विचार से किसी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। यही नहीं, किसी दूसरे निमित्त से कष्ट पाने वाले की उपेक्षा भी वह नहीं कर सकता।

४. मध्यस्थ भावना—जिनसे विचारों का मेल नहीं खाता अथवा जो संस्कार-हीन हैं, किसी भी प्रकार की सद्-वस्तु को ग्रहण करने के योग्य नहीं है, जो गलत राह पर चला जा रहा है और सुधारने तथा सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, उसके प्रति उपेक्षा भाव रखना मध्यस्थ भावना है।

मनुष्य में प्रायः असहिष्णुता का भाव देखा जाता है। वह अपने विरोधी या विरोध को सहन नहीं कर पाता। मतभेद के साथ मनभेद होते देर नहीं लगती। किन्तु यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए माध्यस्थ-भाव जगाना आवश्यक है। इस भावना से विरोधी विचार मनुष्य को क्षुब्ध नहीं करता और उसका समभाव सुरक्षित बना रहता है।

यह चार भावनाएँ आनन्द का निर्मल निर्झर हैं। मनुष्य का जो आन्तरिक संताप—शीतल पवन, चन्दन-लेप या चन्द्रमा की आह्लादजनक किरणों से भी शान्त नहीं हो सकता, उसे ये शान्त करती हैं। इन भावनाओं से जीवन विराट और समग्र बनता है। जिन आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिए साधना का पथ अंगीकार किया जाता है, उसके विकास में यह उपयोगी सिद्ध होती हैं।

दशविध धर्म :

यद्यपि जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है, फिर भी स्वभाव से वह

अमरत्व का स्वामी है। मरना उसका स्वभाव नहीं है। अपने इस स्वभाव के प्रति अव्यक्त आकर्षण होने से ही जीव को मरना अनिष्ट है। अन्यान्य जीवधारियों में तो विवेक का विकास नहीं है, मगर मनुष्य विकसित प्राणी है। उसके सामने भविष्य का चित्र रहता है। वह जानता है कि इस जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है। अतएव वह जब शरीर से अमर रहना असम्भव समझता है तो किसी दूसरे रूप में अमर होने का प्रयत्न करता है। कोई कीर्ति को चिरस्थायी बनाकर अमर रहना चाहता है, कोई संतान-परम्परा के रूप में अपने नाम पर विजय-स्तम्भ बना के अथवा दूसरे स्मारक खड़े करके--अमर रहना चाहता है। यह अमर बनने की आन्तरिक प्रेरणा का ही फल है। परन्तु खेद है कि कोई भी भौतिक पदार्थ मनुष्य की इस अभिलाषा को तृप्त नहीं कर सकता। भौतिक पदार्थ सब नाशशील हैं और जो नाशशील है, वह दूसरे को अमर कैसे बना सकता है।

हाँ, अमरत्व प्रदान करने की शक्ति है धर्म में। जैन-शास्त्र कहते हैं कि दशविध धर्म मनुष्य को अमर बनाता है। इसी कारण जैन साधुओं के लिए इसका पालन करना आवश्यक बतलाया है। उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

१. क्षमा—क्षमा, अहिंसा-धर्म का एक विभाग है। अपराधी को क्षमा देने और अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करने से जीवन दिव्य बन जाता है।

जैन-शास्त्र में साधु के लिए दृढ़तापूर्वक क्षमा-याचना करने

का विधान है। शास्त्र कहता है—"साधुओ ! तुम से किसी का अपराध हो गया हो तो सारे काम छोड़ दो और सबसे पहले क्षमा माँगो। जबतक क्षमा न माँग लो, तब तक भोजन मत करो, शौच मत करो और स्वाध्याय मत करो। क्षमा-याचना करने से पहले मुंह का थूक गले से नीचे न उतारो।

तीर्थंकरों के इस कठोर विधान का परिणाम यह है कि न केवल जैन साधु में ही, वरन् श्रावक में भी क्षमा-याचनाकी परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। वे प्रतिदिन, प्रति सप्ताह प्रति पखवाड़े, प्रति चौमासी और प्रति वर्ष खुले हृदय से अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना करते हैं। जैनों का सबसे बड़ा पर्व जो 'पर्युषण' के नाम से विख्यात है, क्षमा-याचना का ही पर्व है। उस समय समस्त जैन मुनि और श्रावक सभी जीवों से अपने ज्ञात-अज्ञात सभी अपराधों के लिए विनम्र भाव से क्षमा माँगते हैं।

२. मार्दव—चित्त में कोमलता और व्यवहार में नम्रता होना मार्दव धर्म है। मार्दव की साधना विनय से होती है। जैनधर्म में विनय को इतना महत्त्व दिया जाता है कि जैनधर्म विनयमूलक धर्म कहलाता है। शास्त्र कहते हैं—"धम्मस्स विणओ मूलं," अर्थात्—"धर्म की जड़ विनय है।"

मार्दव-धर्म की सिद्धि के लिए जाति, कुल, धन, वैभव, सत्ता, बल, बुद्धि, श्रुति और तपस्या आदि के मद का त्याग करना आवश्यक है। अपने आपको ऊँची जाति और उच्च कुल का

समझकर दूसरों के प्रति हीनता का भाव रखना और इसी प्रकार धन, वैभव आदि के घमड में आकर किसी को तुच्छ समझना मद है। साधु सब प्रकार के मदों का त्याग करके मार्दव धर्म की आराधना करते हैं।

३. आर्जव—ऋजुता अथवा सरलता को आर्जव कहते हैं। विचार, वाणी और व्यवहार की एकरूपता होने पर धर्म की साधना होती है। इसकी साधना के लिए कुटिलता का त्याग करना अनिवार्य है।

आर्जव-धर्म समाज में पारस्परिकता एवं विश्वास स्थापन के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही बुद्धि की निर्मलता के लिए भी। आर्जव से निर्मल बनी बुद्धि वस्तु के सत्य स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ होती है। कुटिलता के त्यागी पुरुष को किसी प्रकार का छल-कपट या प्रपंच नहीं करना पड़ता। उसका चित्त शान्त, कलुषिताहीन और सरल रहता है।

४. शौच—लोभ का त्याग करना 'शौच-धर्म' है। साधक के जीवन में विद्यमान तुच्छ पदार्थ का लोभ भी अनर्थकारक होता है। लोभ से सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं; अतएव साधक को शिष्य-लोभ, कीर्ति-लोभ और प्रतिष्ठा-लोभ से भी दूर रहना होता है। धन-सम्पत्ति आदि भौतिक पदार्थों का लोभ तो उसे स्पर्श कर ही नहीं सकता।

५. सत्य--पाँच अणुव्रतों एवं महाव्रतों के विवेचन में सत्य

का उल्लेख किया जा चुका है। मूलव्रतों में सत्य की गणना करके भी पुनः दश धर्मों में उसे स्थान देना—सत्य के विशिष्ट महत्त्व का बोधक है। जैन-शास्त्रों में बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में सत्य की महिमा बखानी गई है। प्रश्न-व्याकरण शास्त्र में कहा है—

"जं सच्चं तं खु भगवं।"

अर्थात्—"सत्य ही भगवान् है।" इसके पश्चात् सत्य का महत्त्व दिखलाते हुए कहा—सत्य ही लोक में सारभूत वस्तु है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है, मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है, चन्द्र-मण्डल भी अधिक सौम्य है, सूर्य-मण्डल से भी अधिक तेजस्वी है, शरत्कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल है और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभवान है।

६. संयम—मनोवृत्तियों पर, हृदय में उत्पन्न होने वाली कामनाओं पर और इन्द्रियों पर अंकुश रखना संयम है।

पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरित कई भारतीय जन भी आज लालसाओं की तृप्ति में जीवन का उत्कर्ष समझ बैठे हैं। इच्छाओं का दमन करना वे अपने पौरुष की हीनता का चिन्ह मानते हैं। परन्तु इस भ्रान्त-धारणा का परिणाम हमारे सामने है—मानव-जाति की आवश्यकताएँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं और मनुष्य पूर्ति की मृगतृष्णा में परेशान हो रहा है। निरंकुश कामनाओं की बदौलत ही संसार नाना प्रकार के संघर्षों का अखाड़ा बन रहा है। कोई नहीं जानता कि मनुष्य की कामना किस केन्द्र पर जा

समेगी और कब मनुष्य की परेशानियों एवं संघर्षों की इतिश्री होगी ? यह जानना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि—

"इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।"

अर्थात्—"जैसे आकाश अनन्त हैं, उसी प्रकार इच्छाएं भी अनंत हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने से पहले ही अनेक नवीन इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है।"

इससे स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियों को संयत किये बिना और लालसाओं को काबू में किए बिना, न तो व्यक्ति के जीवन में तुष्टि आ सकती है, और न समाज, राष्ट्र या विश्व में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अतएव जैसे आध्यात्मिक उन्नति के लिए संयम की खास आवश्यकता है, उसी प्रकार लौकिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी वह अनिवार्य है। भगवान् महावीर हमारा पथ-प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—

"कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं।"

अर्थात्—"यदि तुमने कामनाओं को लांघ लिया, तो दुःखो को भी लांघ लिया।"

७. तप—जैन-धर्म में तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तपस्या के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध होते हैं, तप असाधारण मंगल है। भगवान् महावीर ने अपने समय में प्रचलित तपस्या के संकीर्ण रूप को विशालता प्रदान की है। उस समय में धूनी तपना, कांटों पर लेटना, गर्मी के दिनों में धूप में खड़े हो जाना, शीत में

जलाशय में प्रवेश करना आदि कायक्लेश को ही प्राय: तप समझा जाता था, पर जैन दृष्टि संकुचित और बहिर्मुखी नहीं है। उसके अनुसार आत्मा के गुणों का पोषण करने वाला तप ही वास्तविक तप है। इस कारण जैन-शास्त्रों में तप के दो विभाग कर दिये गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। उपवास करना, कम खाना, अमुक रस अथवा अमुक वस्तु का त्याग कर देना आदि बाह्य तप हैं। और अपनी भूलों एवं अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करना, गुरुजनों का विनय करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना और उत्सर्ग (त्याग) करना अन्तरंग तप हैं।

८. त्याग—अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों से विमुख हो जाना, 'त्याग' है। जीवन में सच्चे त्याग का जब आविर्भाव होता है, तब मनुष्य कम-से-कम साधन-सामग्री से भी सन्तुष्ट एवं आनन्दमय रहता है। भोग-लोलुप व्यक्ति प्रचुर सामग्री पाकर भी सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। व्यक्तियों के जीवन में त्याग-भाव जागृत करने से अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं किया जाता, परिणामतः दूसरे लोग उनसे वंचित नहीं होते, और विषमता फैलने से रुकती है।

९. अकिंचनता – किसी भी वस्तु पर ममत्व न होना, किसी भी पदार्थ को अपना न समझना और फूटी कौड़ी भी अपने अधिकार में न रखना 'अकिंचनता' है। ममत्व समस्त दुखों का मूल है। जब पर-कार्य को अपना माना जाता है तो उसके विनाश या वियोग से दुःख होता है। जो किसी भी पदार्थ को अपना नहीं

मानता, उसे दुःख ही क्या ? दुःख का मूल 'ममता' और सुख का मूल 'समता' है।

१०. ब्रह्मचर्य—सब प्रकार के विषय-विकारों से दूर रहकर ब्रह्म, अर्थात् आत्मा में विहार करना, 'ब्रह्मचर्य' है। व्रतों के प्रकरण में इसका विचार किया जा चुका है।

उपर्युक्त दश धर्मों का पालन करना मुनियों के लिए परमावश्यक है। श्रावकों को भी अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करना चाहिए। व्यक्ति और समष्टि की शक्ति के लिए यह धर्म कितने आवश्यक हैं, यह बात इन पर विचार करने से सहज समझी जाती है।

साधना की कठोरता

जैन श्रमण की आचार-पद्धति संसार में मुक्ति-साधना की कठोरतम प्रणाली है। केश-लुंचन, भूमि-शय्या, पैदल-विहार, अनियत वास; अर्थात् वर्षाकाल को छोड़कर ग्राम या नगर में एक मास अथवा सात दिन से अधिक न ठहरना, फूटी कोड़ी भी पास न रखना, साथ ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत जागृत रहना, अन्तः करण में कलुषता न आने देना, भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, डांस-मच्छर का दर्शन आदि के कष्टों को धैर्य के साथ सहन करना, हमेशा प्रत्येक वस्तु को याचना करके ही ग्रहण करना, आहार-पानी का लाभ न होने पर विषाद न करके उसे तपस्या का लाभ मान लेना आदि ऐसी चर्या है, जिसके लिए

जीवन को एक खास तरह के सांचे में ढालने की आवश्यकता होती है।

साधना का आधार

इसके पहले साधु-जीवन की चर्या का जो उल्लेख किया गया है, उससे पाठकों को यह ख्याल अवश्य आ जायगा कि जैन-साधु वैराग्य और त्याग की साक्षात् प्रतिमा होता है। उसके त्याग वैराग्य का आधार क्या है? यह प्रश्न खड़ा हो सकता है। इसका उत्तर शास्त्रों में दिया गया है।

वास्तव में इस उग्र साधना का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, असीम और विराट चेतना का धनी होकर भी कर्म-उपाधि के कारण सांसारिक दुःख का भाजन बन रहा है। कर्म की उपाधि इस साधना के बिना नष्ट नहीं हो सकती। इसी करण साधु इस साधना को स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करता है।

वैराग्य की क्षणिक तरंग में बहकर साधु बन जाने से काम नहीं चलता। ऐसा करने वाला व्यक्ति न इधर का और न उधर का ही रहता है। ऐसे अस्थिर-चित्त लोगों को सावधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"तू जिस श्रद्धा के साथ घर छोड़-कर निकला है, जीवन के अन्तिम श्वास तक उसी श्रद्धा का निर्वाह कर।"

जिस श्रद्धा और विरक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य श्रमणत्व

अंगीकार करता है, जीवन-पर्यन्त उसको स्थायी बनाये रखना साधारण बात नहीं। उसके लिए श्रमण को क्षण-भर का भी प्रमाद न करके निरन्तर जागृत रहना पड़ता है। भगवान् ने कहा है—

"सुत्ता अमुणी
मुणिणो सया जागरंति।"

अर्थात्—"जो प्रमाद में पड़ जाता है, वह मुनि-पद से च्युत हो जाता है, अतएव मुनिजन सदैव जागते रहते हैं।" सतत जागृति को बनाये रखने के लिए जैन-शास्त्रों में साधुओं के लिए विविध उपायों का निर्देश किया गया है। जिनका विस्तार-भय से यहां पर उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

संलेखना व्रत : मृत्यु-कला

जैन-दृष्टि के अनुसार धर्म एक कला है और धर्म-कला का स्थान समस्त कलाओं में सर्वोपरि है। "सव्वासु कलासु धम्म-कला जिणई," अर्थात्—'धर्म-कला सब कलाओं को जीतती है।' धर्म-कला जिस प्रकार सर्वोच्च है, उसी प्रकार सर्वव्यापक भी है। जिस प्रकार जीवन के प्रत्येक व्यापार में वह ओत-प्रोत रहनी चाहिए, उसी प्रकार मृत्यु में भी जगत् के सभी धर्मोपदेष्टाओं और नीति-प्रणेताओं ने जीवन की कला का रूप मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परन्तु मृत्यु जो कि जीवन का ही दूसरा पहलू या अनिवार्य परिणाम है—की कला का जैसा सुन्दर निदर्शन भगवान् महावीर ने कराया है,

वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता है।

मृत्यु की कल्पना भी अत्यन्त भयावह है। सम्भवतः संसार में अधिक से अधिक भयंकर कोई वस्तु है, तो वह मृत्यु ही है। पर भगवान् महावीर जैसे अनूठे कलाकार ने उसे भी उत्कृष्ट कला का रूप प्रदान किया है। उस कला की साधना में सफलता प्राप्त कर लेने वाला साधक ही अपनी साधना में उत्तीर्ण समझा जाता है। जीवन-कला की साधना के पश्चात् भी मृत्यु कला की साधना में जो असफल हो जाता है, वह सिद्धि से वंचित ही रह जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—"मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। मृत्यु कोई विकराल दैत्य नहीं है। मृत्यु तो मनुष्य का मित्र है और उसके जीवन-भर की कठिन साधना को सत्फल की ओर ले जाती है। यदि मृत्यु सहायक न बने, तो मनुष्य ऐहिक धर्मानुष्ठान का पारलौकिक फल अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है?"

कारागार से मनुष्य को मुक्त करने वाला उपकारक होता है। फिर इस शरीर के कारागार से छुड़ा देने वाली मृत्यु को क्यों न उपकारक माना जाये? इस कृमि-कुल से संकुल एवं जर्जर देह रूपी पिंजड़े से निकाल कर दिव्य देह प्रदान करने वाली मृत्यु से अधिक उपकारक और कौन हो सकता है?

वस्तुतः मृत्यु कोई कष्टकर व्यापार नहीं, वरन् टूटी-फूटी झोंपड़ी को छोड़कर नवीन मकान में निवास करने के समान एक

आनन्दप्रद व्यापार है। किन्तु अज्ञान-जनित ममता इस नफे के व्यापार को घाटे का व्यापार बना देती है और अज्ञानी जीव अपने परिवार और भोग-साधनों के विछोह की कल्पना करके मृत्यु के समय हाय-हाय करता है, तड़पता है, छटपटाता है और आकुल-व्याकुल हो जाता है। परन्तु तत्त्वदर्शी पुरुष अनासक्त होने के कारण मध्यस्थ भाव में स्थिर रहता है और जीवन-भर की साधना के मन्दिर पर स्वर्ण-कलश चढ़ा लेता है। वह परम शान्त एवं निराकुल भाव से अपनी जीवन-यात्रा पूरी करता है और इस प्रकार अपने वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी मंगलमय बना लेता है। संयम और धर्म की मर्यादाओं में आबद्ध जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। श्रमण-धर्म की कठोर साधना से जीवन की उद्दाम और उच्छृंखल वृत्तियों को नियंत्रित करना संयमी पुरुष के लिए आवश्यक है। जैन-धर्म जीवन से पलायनवादी नीति पर विश्वास नहीं रखता, अपितु संयम और संतोष, स्वाध्याय और तप, विवेक और वैराग्य द्वारा इसी जीवन में आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सर्वज्ञपद पा लेना ही, वह ध्येय-सिद्धि मानता है। जैन-धर्म कहता है कि—"जब तक जीओ, विवेक और आनन्द से जीओ, ध्यान और समाधि की तन्मयता में जीओ, अहिंसा और सत्य के प्रसार के लिए जीओ और जब मृत्यु आये तो आत्मसाधना की पूर्णता के लिए, पुनर्जन्म में अपने आध्यात्मिक लक्ष्य-सिद्धि के लिए अथवा मोक्ष के लिए—मृत्यु का भी समाधिपूर्वक वरण करो। मृत्यु के आने पर मन की एकाग्रता, ध्यान, तन्मयता तथा तदाकारता का आनन्द लो। किन्तु जगत्

में जीवन को ऐच्छिक, इष्ट, प्रिय और सुखद समझा गया है और मृत्यु को अप्रिय, भयावह तथा अनिष्टकारक माना गया है। यही कारण है कि मृत्यु के समय साधक यदि मोह का त्याग न कर पाया तो जीवन की साधना पर कालिख पुत जाती है और दोनों जन्म बर्बाद हो जाते हैं।

दो

दर्शन

किसी देश की विचारधारा में ही उस देश की आत्मा अपने प्रति जागरूक होकर अपने को समझने का प्रयत्न करती है। मानव-जीवन आत्मा के विकास की ही एक पृष्ठ-भूमि है। किसी देश की आत्मा विकास की किस अवस्था तक पहुँच चुकी है, इस तथ्य को समझने के लिए उस देश की विचारधारा का अध्ययन, अनुशीलन और चिन्तन परम आवश्यक हो जाता है। आत्मा का जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण होता है, उस समय का इतिहास उसी दृष्टिकोण का परिणाम होता है। किसी भी देश के इतिहास को समझने के लिए पहले उस देश की आत्मा को समझना आवश्यक है। किसी भी देश की आत्मा होती है— उसका दर्शन-शास्त्र।

अपने बौद्धिक विकास से ही मनुष्य पशुत्व भाव से उठकर मनुष्यता के स्तर पर आया है। भारतीय विचारधारा के अध्ययन के लिए और भारतीय मस्तिष्क की क्रिया-प्रतिक्रिया को समझने के लिए आज से लगभग तीन हजार वर्ष पहले लौट चलना पड़ेगा। भारतीय चिन्तन-धारा ने अपने विकास-क्रम में मुख्य रूप से दो विचारधाराओं को जन्म दिया—वैदिक विचारधारा और अवैदिक विचारधारा। वैदिक विचारधारा में षड्-दर्शन की

परिगणना होती है। षड्-दर्शनों का क्रम इस प्रकार है—सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक तथा मीमांसा और वेदान्त। ये षड्-दर्शन वेद को प्रमाण मानकर चलते हैं, इसी आधार पर इनको वैदिक-दर्शन कहा जाता है। जो विचारधारा किसी पोथी से और किसी व्यक्ति-विशेष से बद्ध न होकर केवल अनुभव और तर्क के आधार पर चलती है, उसे अवैदिक-दर्शन कहा जाता है। अवैदिक-दर्शन तीन हैं—जैन, बौद्ध और चार्वाक। इन विभागों को ब्राह्मण-दर्शन और श्रमण-दर्शन भी कहा जा सकता है। यद्यपि चार्वाक-दर्शन की विचारधारा का मेल श्रमण-परम्परा की विचार-धारा से बैठता नहीं है, तथापि कुछ व्यावहारिक बातों में चार्वाक-दर्शन श्रमण विचारधारा के निकट आ जाता है। जैसे—वेद और वेद के कर्मकाण्ड का विरोध, ईश्वर की सत्ता में अविश्वास और स्वर्ग के देवों की अपेक्षा मनुष्य के आचरण में विश्वास करना। जैन और बौद्ध विचारधाराएँ मनुष्य का अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करने का प्रथम आह्वान है। श्रमण-परंपरा में स्वतन्त्र विचारों को जितना महत्त्व मिला, उतना वैदिक परम्परा में नहीं मिल सका।

दर्शन का स्वरूप

सोचना मानव का स्वभाव है। वह किस रूप में सोचता है, यह एक अलग प्रश्न है, परन्तु वह सोचता अवश्य है। मनुष्य के जीवन में जहाँ से सोचना शुरू होता है, वहीं से दर्शन का प्रारम्भ हो जाता है। अतः दर्शन उतना ही प्राचीन है, जितना कि स्वयं मानव। मनुष्य की बुद्धि, उसके

परम्परागत संस्कार तथा आसपास की परिस्थिति—मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करती है। अपने समक्ष उपस्थित किसी भी समस्या के समाधान के लिए मनुष्य जब कुछ सोच-विचार करता है, तब वह उसका दर्शनशास्त्र आविर्भूत हो जाता है। कुछ दार्शनिक आश्चर्य को चिन्तन का आधार मानते हैं। आश्चर्यवादी विचारक यह कहते हैं कि मनुष्य के चिन्तन का मुख्य आधार एक प्रकार का आश्चर्य है। प्लेटो तथा अन्य ग्रीक दार्शनिकों ने आश्चर्य के आधार पर ही दार्शनिक भित्ति का निर्माण किया था। सन्देहवादी दार्शनिक कहते हैं कि दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से नहीं, किन्तु सन्देह से होती है। डेकार्ट ने सन्देह के आधार पर ही दर्शन की नींव डाली। आश्चर्य और सन्देह के सिद्धान्त पर विश्वास न करने वाले कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो व्यावहारिकता को ही दर्शन की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवन के व्यवहार-पक्ष की सिद्धि के लिए दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। इस विचारधारा को पाश्चात्य दार्शनिक व्यावहारिकतावाद कहते हैं। परन्तु व्यावहारिकतावाद का सिद्धांत दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट है। भारतीय परम्परा में चार्वाक दर्शन का आधार व्यावहारिकतावाद ही था। कुछ दार्शनिकों ने यह भी कहा कि दर्शन का आधार बुद्धि-प्रेम है। उनकी धारणा के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति का कोई बाह्य कारण नहीं है, जिसको आधार बनाकर दर्शन का प्रादुर्भाव हो। मनुष्य अपनी बुद्धि से बहुत प्रेम करता है, वह कभी यह नहीं चाहता कि उसकी बुद्धि अविकसित दशा में पड़ी रहे। बुद्धिप्रेम की यह अभिव्यक्ति ही ग्रीक दार्शनिकों के विचार

के अनुसार दर्शन हैं। इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन का स्वरूप भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अभिव्यक्त किया है।

भारत के समस्त दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति में दुःख को कारण मानते हैं। दुःख से मुक्ति पाना यही भारतीय दर्शन-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। भारतीय दर्शन वस्तुतत्त्व के मूल कारण की खोज करता है। भारतीय दर्शन का मुख्य विषय है—आत्मा, परमात्मा, कर्म, जीवन और जगत्।

दर्शन और जीवन

जीवन के साथ दर्शन-शास्त्र का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर मिल जाने पर हम यह सहज ही में समझ सकते हैं कि जीवन में दर्शन-शास्त्र का क्या महत्त्व है। जब हम यह मानते हैं कि चिन्तन करना और विचार करना अथवा यह कहना कि चिन्तन ही एक ऐसा विशेष गुण है जो मनुष्य को वास्तविक रूप में मनुष्य बनाता है। तब यह समझना कठिन नहीं कि जीवन और दर्शन कितने समीप हैं। जब तक चिन्तन अथवा विचार मनुष्य का आवश्यक स्वभाव बना रहेगा, तब तक मानव-जीवन में दर्शन-शास्त्र अवश्य रहेगा। चिन्तन मानव के जीवन से दूर हो जाए, यह अभी तक तो सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ मानव रहेगा, वहाँ सर्वत्र दर्शन-शास्त्र भी अवश्य रहेगा। दर्शन के अभाव में मानव का अस्तित्व ही असम्भव है। यह एक अलग प्रश्न है कि—दर्शन का स्तर क्या है? किसी समाज की विचारधारा अधिक विकसित हो सकती है तो किसी की प्रारम्भिक अवस्था में ही रहती है। इन अवस्थाओं

के आधार पर हम दर्शन के स्तर का भी निश्चय करते हैं। जीवन में दर्शन रहेगा अवश्य, मानव जीवन कभी दर्शन-शून्य नहीं हो सकता। अतः जीवन और दर्शन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

दार्शनिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि मनुष्य की विचारधारा अथवा चिन्तन-शक्ति का मुख्य केन्द्र उसका जीवन ही रहा है। उसने सोचना प्रारम्भ तो किया अपने जीवन पर, किन्तु जीवन से सम्बद्ध अनेक समस्याओं पर भी उसे सोचना पड़ा। क्योंकि उन समस्याओं का समाधान किए बिना जीवन का पूरा चिन्तन सम्भव न था। जीवन के सर्वांगीण अध्ययन और चिन्तन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि जीवन से सम्बन्धित अन्य तत्वों का भी अध्ययन और अनुशीलन किया जाए। दर्शन का मुख्य प्रयोजन चिन्तन और मनन है, किन्तु वह चिन्तन जीवन और जगत् से हटकर आत्मा और परमात्मा तक भी जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर भी दर्शन-शास्त्र समाप्त नहीं हो जाता। दर्शन-शास्त्र का फैलाव पुनर्जन्म और लोकोत्तर जीवन तक भी पहुँच गया। वर्तमान का भौतिक-विज्ञान और मनोविज्ञान भी दर्शन-शास्त्र की एक शाखा-विशेष ही है। दर्शन-शास्त्र की प्रत्येक शाखा में जीवन के विविध अंगों का अध्ययन और मनन किया जाता है। जीवन के मूल तत्वों का अध्ययन करना और उन्हें समझने का प्रयत्न करना तथा विवेक की कसौटी पर कसे हुए तत्वों के अनुसार आचरण करना—यही दर्शन का जीवन के साथ वास्तविक सम्बन्ध है। विचार के साथ यदि आचार न रहेगा,

तो वह दर्शन-शास्त्र मानव-जीवन को किसी भी प्रकार की प्रेरणा नहीं दे सकेगा।

दर्शन और जगत्

दर्शन और जीवन का सम्बन्ध समझ लेने के बाद, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जिस जगत् में हमारा जीवन व दर्शन फलता-फूलता है, उस जगत् का स्वरूप भी समझें। जगत् का स्वरूप समझते समय हमें यह भी मालूम हो जायगा कि व्यक्ति के जीवन का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध रहा है। जीवन और जगत् का सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर दर्शन और जगत् का क्या सम्बन्ध है ? यह भी, समझ में आ जायगा। दर्शन के क्षेत्र में जगत् का विश्लेषण करने वाली दो मुख्य विचारधाराएँ हैं—यथार्थवाद और आदर्शवाद। यथार्थवाद और आदर्शवाद का झगड़ा नया नहीं, बहुत पुराना है। दर्शन-शास्त्र के इतिहास के पृष्ठों पर यह झगड़ा बहुत लम्बे काल से चला आ रहा है। इस संघर्ष का मुख्य आधार भौतिक सत्ता है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों ने इस संघर्ष को और अधिक प्रोत्साहन दिया है। जड़-तत्त्व के स्वरूप और जगत् की रचना के प्रश्न को लेकर दार्शनिकों में बहुत बड़ा वाद-विवाद होता रहा है।

संसार के विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। कुछ दार्शनिकों ने कहा—"यह दृश्यमान जगत् जड़ है, अचेतन है और एकान्त भौतिक है।" इस विचारधारा को जड़ाद्वैतवादी विचारधारा कहते हैं। इस विचारधारा के अनुसार यह जगत् भूतचतुष्टयात्मक है। भूतचतुष्टय

के अतिरिक्त इस विश्व में चेतन नाम का तत्त्व स्वतन्त्र नहीं है। जिसे हम चेतन कहते हैं, वह भी वस्तुतः भूतचतुष्टय की अवस्था-विशेष ही है। कुछ दार्शनिकों ने यह भी कहा है कि यह संसार चेतनात्मक है। चेतना के अतिरिक्त इस विश्व में अन्य कोई तत्त्व नहीं है। जिसे हम जड़ समझते हैं, आखिर वह भी तो चेतन तत्त्व की एक अवस्था है। इस विचारधारा के अनुसार सम्पूर्ण जगत् चेतनामय है। अतः इस विचारधारा को चेतनाद्वैतवादी कहते हैं। परन्तु जैन-दर्शन के अनुसार यह जगत् न एकान्त जड़ है और न एकान्त चेतन है। जीव और पुद्गल का समन्वयात्मक रूप ही यह संसार है। भगवान् महावीर ने जगत् को पंचास्तिकायों का समूह कहा है।

जैन दर्शन का आधार

जैन-परम्परा दर्शन के अन्दर आती है अथवा धर्म के अन्दर ? यह हम जानते हैं कि दर्शन तर्क और हेतुवाद पर अवलम्बित है, जब कि धर्म का मुख्य आधार है—श्रद्धा और विश्वास। श्रद्धा और तर्क दोनों की आश्रय-भूमि है—मानव। श्रद्धा जिस बात को सर्वथा सत्य मानती है, तर्क उसी बात को उड़ा देता है। इस दृष्टि से श्रद्धा और तर्क हमें एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उन दोनों में विरोध जैसी कोई बात नहीं है। जैन-दर्शन यह स्वीकार करता है कि तर्क-शून्य श्रद्धा अन्धश्रद्धा बन सकती है। और श्रद्धा-शून्य तर्क मनुष्य को भुलावे में डाल सकता है। अतः जीवन में श्रद्धा और तर्क का समन्वय अपेक्षित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि

दर्शन का आधार धर्म है और धर्म का आधार दर्शन है। भारतीय विचारधारा इस तथ्य को स्वीकार करती है कि धर्म और दर्शन में कोई मौलिक विरोध नहीं है। धर्म और दर्शन दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। श्रद्धा और तर्क के विरोध को भारतीय परम्परा आचार और विचार के विभाजन से शान्त करती है। श्रद्धाशील व्यक्तियों की सन्तुष्टि के लिए आचार-मार्ग सहायक होता है तथा चिन्तनशील व्यक्तियों की तृप्ति के लिए विचार-मार्ग।

बौद्ध परम्परा में हीनयान तथा महायान के रूप में आचार और विचार की दो धाराएँ मिलती हैं। वेदान्त दर्शन में पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा के नाम से विचार और आचार की धारा प्रसिद्ध है। सांख्य और योग भी आचार और विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक परम्परा में विचार के साथ आचार को और आचार के साथ विचार को स्थान मिला है। जैन-परम्परा भी आचार और विचार के भेद से दो भागों में विभाजित की जा सकती है। आचार के नाम पर अहिंसा का जितना विकास जैन-परम्परा में हुआ है उतना भारतीय परम्परा की अन्य किसी शाखा में नहीं हो सका है। एक प्रकार से जैन-धर्म अहिंसा का पर्यायवाची ही बन गया है। यह जैन-परम्परा के लिए गौरव का विषय है। विचार के रूप में जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद सुप्रसिद्ध है। अनेकान्तवाद के विषय में जैन-दर्शन का दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक है। अनेकान्तवाद में सभी विचारों का समन्वय हो जाता है, जिस प्रकार अहिंसा में सभी धर्म समा-

हित हो जाते हैं। इस प्रकार आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त सम्पूर्ण जैन-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में अहिंसा और अनेकान्त—ये दोनों जैन-दर्शन के प्राणभूत तत्त्व हैं और मुख्य आधार हैं। अहिंसा और अनेकान्त से बाहर जैन-दर्शन का कोई तत्त्व शेष नहीं रह जाता।

वस्तु तत्त्व

जैन-दर्शन में मुख्य रूप से दो तत्व माने गये हैं—जीव और पुद्गल। जिसमें चेतना गुण हो, वह जीव है और जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो, वह पुद्गल है। जैन-दर्शन में वस्तु तत्त्व को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। प्रत्येक वस्तु में कुछ सामान्य गुण होते हैं, कुछ विशेष गुण होते हैं। इस दृष्टि से वस्तु-तत्त्व सामान्य-विशेषात्मक भी है। किसी भी वस्तु के परिबोध के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता है—प्रमाण, नय और निक्षेप। वस्तुगत अनेक धर्मों का एक साथ ज्ञान करने वाला 'प्रमाण' होता है और वस्तुगत किसी एक धर्म का ज्ञान करने वाला 'नय' होता है। प्रमाण और नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। अतएव प्रमाण और नय के स्वरूप को जानना परम आवश्यक है। प्रमाण और नय के बिना किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु का ज्ञान करने का तीसरा प्रकार है, निक्षेप। वक्ता के प्रयोजन के अनुसार किसी भी शब्द का अर्थ ग्रहण किये बिना वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता। एक शब्द प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द का मोटे तौर पर चार अर्थों में विभाग किया जाता है। इसी अर्थ-विभाग को न्याय और निक्षेप कहते हैं।

जैन-दर्शन में प्रमेय और ज्ञेय का स्वरूप दो प्रकार से वर्णित है—नव-तत्त्व और षड्-द्रव्य। वस्तुतः नव-तत्त्व और षड्-द्रव्य में किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं है, परन्तु शैली और भावाभिव्यक्ति का भेद अवश्य है। नव-तत्त्व के अध्येता को षड्-द्रव्य का ज्ञान हो ही जाता है और षड्-द्रव्य के ज्ञाता को नव-तत्त्व का बोध हो ही जाता है। जैन-दर्शन में नव-तत्त्व और षड्-द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व शेष नहीं रहता। प्रमाण, नया और निक्षेय के द्वारा इन्हीं तत्त्वों का ज्ञान किया जाता है। प्रमाण का विषय होने से इनको प्रमेय कहते हैं और ज्ञान का विषय होने से इनको ज्ञेय कहते हैं। इसी प्रकार अनेकान्त-दृष्टि, स्याद्वाद भाषा-पद्धति और सप्त-भंगी की वचन-शैली भी वस्तु-तत्त्व का यथार्थ-ज्ञान कराती है। यहाँ पर इन सबका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

प्रमाण-परिचय—जैन-शास्त्रों में ज्ञान की मीमांसा के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति और तार्किक पद्धति में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है, तथापि दोनों का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे। तार्किक पद्धति के अनुसार—संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण-ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) आगम, और (४) उपमान।

इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१. प्रत्यक्ष—विशद ज्ञान, अर्थात् जिस ज्ञान में वस्तुगत विशेषताएं प्रचुरता से प्रतीत होती हैं, वह 'प्रत्यक्ष' है। पूर्वोक्त पांच ज्ञानों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम तीन—अवधि, मन:पर्याय और केवल-ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष में भी अवधिज्ञान और मनः पर्याय-ज्ञान विकल या आंशिक प्रत्यक्ष हैं और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुत: परोक्ष हैं, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते हैं।

२. अनुमान—अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है। यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका विशिष्ट स्थान है। अनुमान के द्वारा ही हम संसार का अधिकतम व्यवहार चला रहे हैं। अनुमान के आधार पर ही तर्क-शास्त्र का विशाल भवन खड़ा हुआ है।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है। अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है और अग्नि के अभाव में धूम्र उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारणभाव व्याप्ति या अविनाभाव-सम्बन्ध कहलाता है। इसका निश्चय तर्क-प्रमाण से होता है। अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का बोध हो जाता है। वही बोध अनुमान कहलाता है। किसी जगह धूम्र से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वत: होती है, यही अनुमान ज्ञान है।

कहीं कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है। मनुष्यों में भी अमुक मनुष्य का है और पशुओं में भी अमुक पशु-जाति का है। इस प्रकार केवल स्वर से ही स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है।

अनुमान के दो भेद हैं--स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अनुमानकर्त्ता जब अपनी अनुभूति से स्वयं ही किसी तथ्य (ज्ञेय-साध्य) का हेतु (साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जब वह वचन-प्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए ? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियों ने बहुत विचार किया है। न्याय-दर्शन में परार्थानुमान के पांच अवयव स्वीकार किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा)
२. क्योंकि वहाँ धूम्र है (हेतु)।
३. जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (व्याप्ति); जैसे--रसोई-घर (उदाहरण)।
४. पर्वत में भी धूम्र है (उपनय)।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)।

जैन-तार्किक समझदारों के लिए इनमें से प्रथम के दो अवयवों का प्रयोग ही पर्याप्त मानते हैं। अलबत्ता किसी अबोध व्यक्ति को समझाने के लिए अधिक अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग में कोई हानि नहीं समझते। मगर पांचों अवयवों के प्रयोग को वे अनिवार्य नहीं समझते।

३. आगम-पुराण—श्रुतज्ञान के विवेचन में आगम-प्रमाण का वर्णन किया जाएगा।

उपमान-प्रमाण—प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् बोध होना—उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

'गवय गौ के समान होता है।'—यह वाक्य जिसने भी सुन रखा है, वह व्यक्ति जब अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण कर के झट समझ जाता है कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनों के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

प्रमाणों का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी आगमिक पश्चाद्वर्ती तार्किक आचार्यों ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष-प्रमाण के भी दो भेद हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। परोक्ष-प्रमाण पांच प्रकार का है—१. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क, ४. अनुमान, और ५. आगम।

साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण में भी

पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। इसमें उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान न देकर, प्रत्यभिज्ञान में सम्मिलित कर लिया गया है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क, उस वर्गीकरण के अनुसार सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हैं।

नयवाद—विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तु-तत्त्व की कसौटी के रूप में प्रमाण को अंगीकार करते हैं। जैन-दर्शन इस सम्बन्ध में एक नवीन सूझ देता है। उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तु-तत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नहीं है। वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है। जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक बन गए हैं, जब कि जैन-दर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है। नय उसी के अंशों को, उसके खण्ड-खण्ड रूपों को जानता है।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है। विश्लेषण के बिना उसका परिपूर्ण रूप नहीं जाना जा सकता। तत्त्व विश्लेषण करना और विश्लिष्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है।

नय के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के

अविरोध का मूल खोजा जाता है और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारों की मीमांसा है। वह एक ओर विचारों के परिणाम और कारण का अन्वेषण करते हैं और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का बीज खोजकर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड़-पदार्थ, सभी विषयों में परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माएँ अनन्त अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले मन्तव्यों के विषय में नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माएँ अनेक हैं? इस प्रकार के दृष्टिकोणों का अन्वेषण करके उन विचारों की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारों के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत् के विचारों के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म, स्वभाव, गुण विद्यमान हैं। उनके विषय में अनन्त अभिप्रायों को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप में जानने वाला ज्ञान—'प्रमाण' कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान—'नय' कहलाता है। प्रमाण अनेकांश ग्राही है, तो नय एक अंश का ग्राहक है।

नय की सत्यता—यह कहा जा सकता है कि अनेक अंशों में से सिर्फ एक अंश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्या-ज्ञान है। नय यदि मिथ्या ज्ञान है, तो वह वस्तु-तत्त्व के निर्णय का आधार कैसे बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश नहीं है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय में उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि में जन्म लेता है तो कभी नरक का कीडा बन जाता है। इस दृष्टि-कोण से आत्मा अनित्य भी है। यहाँ नित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे, तो वह सम्यक् नय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयों के दृष्टिकोण का विरोध करता है, तो ऐसा नय मिथ्या-नय बन जाता है।

सरल शब्दों में कहना चाहिए कि कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नहीं कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा, तो वह स्वयं झूठा हो गया।

नय-भेद—यह कहा जा चुका है कि एक वस्तु में अनन्त-

अनन्त धर्म हैं और उसमें एक-एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त हैं, तो नय भी अनन्त होने चाहिए। वास्तव में ऐसा ही है। जगत् में प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना में नहीं आ सकते, तो उनको ग्रहण करने वाले नयों की गणना भी संभव नहीं। इसलिए जैन-दर्शन कहता है—

'जावइया वयणपहा, तावइया, चेव हुंति नयवाया।'

अर्थात्—जितने वचन के पथ हैं या वस्तु-सम्बन्धी अभिप्राय हैं, उतने ही नय के प्रकार हैं।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धांत का उपयोग किया जाए तो उन समस्त नयों को दो भागों में बांटा जा सकता है :

१. **द्रव्यार्थिक नय**, और २. **पर्यायार्थिक नय**।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न देशों और विभिन्न कालों में होने वाली नाना अवस्थाएँ पर्याय कहलाती हैं। समस्त विचारों की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूल-भूत दो ही हैं।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक कहलाता है।

मध्यम रीति से इन दोनों नयों के सात भेद किये गए हैं—१. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़, और ७. एवं भूत। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. नैगम—निगम अर्थात् लोकरूढ़ि या लौकिक संस्कार से उत्पन्न हुई कल्पना को 'नैगम नय' कहते हैं। जैसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी आने पर कहना—'आज भगवान् महावीर का जन्म-दिन है।' वास्तव में भगवान् महावीर का जन्म आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था, फिर भी लोकरूढ़ि से ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि रास्ता कहीं आता-जाता नहीं, फिर भी लोग कहते हैं—'यह रास्ता दिल्ली जाता है।' फूटे घड़े में पानी चूता है, मगर दुनिया कहती है—'घड़ा चूता है।' जिस दृष्टिकोण से ऐसे कथन सही समझे जाते हैं, वह दृष्टिकोण 'नैगम नय' कहलाता है।

२. संग्रह नय—संग्रह नय का अर्थ है—अभेद दृष्टि। जड़ और चेतन तत्त्वों की जो धारा समान रूप से प्रवाहित हो रही है, उसी सामान्य तत्व को मुख्य करके सत्ताधर्म की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर सब को एक रूप मानने वाला अभिप्राय 'संग्रह नय' कहलाता है।

जड़ और चेतन एक हैं, क्योंकि दोनों में एक ही सत्ता समान रूप से व्याप्त है। सब आत्मा एक हैं, क्योंकि उनकी स्वाभाविक चेतना में कोई विलक्षणता नहीं है। मनुष्य मात्र एक हैं, क्योंकि मनुष्यत्व जाति एक है। इस प्रकार समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करना 'संग्रह नय' है।

स्मरण रखना चाहिए कि जिन वस्तुओं में किसी समान धर्म के आधार पर एकता की कल्पना की गई है, उनमें बहुत-से

विशिष्ट धर्म भी होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। मगर संग्रह-नय उन्हें स्वीकार नहीं करता।

३. व्यवहार नय—पदार्थों में रहे हुए विशेष, अर्थात् भेदकारी धर्मों को प्रधान करके उनमें भेद स्वीकार करने का दृष्टिकोण 'व्यवहार नय' है।

संग्रह नय अभेद की प्रधानता पर चलता है, मगर अभेद से लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। जड़ और चेतन सत्ता की समानता के कारण भले ही एक हों, मगर जड़ में चेतन नहीं है और चेतन जीव में चेतना है। इस कारण दोनों की भिन्नता भी वास्तविक है। मनुष्यत्व के लिहाज से मनुष्य मात्र एक ही सही, फिर भी मनुष्य-मनुष्य में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला अन्तर भी वास्तविक है। इस प्रकार पृथक्करणवादी दृष्टिकोण 'व्यवहार नय' है।

लोक-व्यवहार अभेद नहीं, भेद से चलता है। संग्रह नय की दृष्टि में साड़ी की जगह पगड़ी से और पगड़ी की जगह साड़ी से काम नहीं चलता। दोनों में भेद है और उस भेद को स्वीकार करना ही 'व्यवहार नय' है।

यह तीन नय साधारणतया द्रव्य को ही प्रधान रूप से ग्रहण करते हैं, अतएव इन्हें 'द्रव्यार्थिक नय' कहा गया है।

४. ऋजुसूत्र नय—कभी-कभी मानवीय बुद्धि भूत और भविष्यत् स्वप्नों को ठुकरा कर तात्कालिक लाभालाभ को ही

लाभालाभ स्वीकार करती है। भूतकालीन वस्तु विनिष्ट हो जाने के कारण असत् है और भविष्यत्कालीन उत्पन्न न होने के कारण असत् है, उनकी कोई उपयोगिता नहीं। वर्तमानकालीन समृद्धि है। जो धन नष्ट हो गया और भविष्य में मिलेगा, वह कोरा स्वप्न है। आज उसकी कोई सत्ता नहीं।

इस प्रकार बुद्धि जब वर्तमान को ही सर्वस्व मानकर चलती है, तो वर्तमान-विषयक विचार 'ऋजुसूत्र नय' कहलाता है।

५. शब्दनय—पूर्वोक्त चार नय वस्तु को प्रधान रखकर विचार करते हैं। अतएव इन्हें 'अर्थ-नय' कहते हैं। शब्द-नय और इससे आगे के समभिरूढ़ तथा एवंभूत नय शब्द-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते हैं। अतः यह तीनों 'शब्द-नय' पर्यायवाची शब्दों को एकार्थ स्वीकार करता है, मगर उनमें यदि काल, लिंग, कारक, वचन, या उपसर्ग की भिन्नता हो तो उन्हें एकार्थक नहीं मानता।

लेखक लिखता है—'अयोध्या नगरी थी।' यद्यपि अयोध्या नगरी लेखक के समय में भी है, फिर भी वह 'है' न लिखकर 'थी' क्यों लिखता है? इस प्रश्न का उत्तर शब्दनय यह देता है कि-काल-भेद से अयोध्या नगरी में भी भेद हो जाता है। अतएव लेखक के समय की अयोध्या और है तथा जिस समय की घटना वह लिखता है, 'अयोध्या है' नहीं लिखता है। यह काल-भेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार लिंग-भेद से अर्थभेद हो जाता है; जैसे—नर और नारी। उपसर्ग का भेद भी अर्थ मे भेद उत्पन्न कर देता है; जैसे—प्रस्थान-गमन, संस्थान-आकार अथवा आहार-विहार, प्रसार-परिहार संहार-नीहार आदि।

इन उदाहरणों के आधार पर कारक और वचन आदि के भेद से वस्तु-भेद हो जाने की कल्पना की जा सकती है।

६. समभिरूढ़ नय—यह नय शब्द-नय से भी एक कदम आगे बढ़कर सूक्ष्म शाब्दिक चिन्तन करता है। यह कहता है—अगर काल और लिंग आदि की भिन्नता अर्थ-भेद उत्पन्न कर सकती हैं तो व्युत्पत्ति (शब्दों की बनावट) के भेद से भी वस्तु-भेद क्यों न माना जाय? अतः समभिरूढ़ नय विभिन्न पर्याय-वाची शब्दों को एकार्थक नहीं मानता। इसके मतानुसार सभी कोष मिथ्या हैं, क्योंकि एकार्थ-बोधक अनेक शब्दों का प्रतिपादन करते हैं। कोष 'राजा' 'नृप' और 'भूप' को एकार्थक बतलाता है, किन्तु इसकी बनावट पर ध्यान दिया जाय तो उनका अर्थ-भेद स्पष्ट है। राजदण्ड को धारण करने वाला 'राजा', मनुष्य का पालन करने वाला 'नृप', पृथ्वी का रक्षण करने वाला 'भूप' कह-लाता है। अगर 'नृप' और 'भूप' शब्दों का एक ही अर्थ माना जाय तो 'मनुष्य' और 'पृथ्वी' का अर्थ भी एक हो जाना चाहिए।

वैयाकरणों में 'शब्दभेदात् अर्थभेदः—अर्थभेदात् शब्दभेदः' शब्द के भेद से अर्थ में और अर्थ के भेद से शब्द में भेद हो जाता है—यह प्रचलित सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है।

७. एवंभूत नय—यह नय सूक्ष्मतम शाब्दिक विचार हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसका कथन यह है—'यदि व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है, तो जब व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ किसी वस्तु में घटित हो, तभी उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए और जब वह अर्थ घटित न हो, तब उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

एवंभूत नय समस्त शब्दों को क्रियावाचक ही मानता है। संज्ञावाचक, गुणवाचक, भाववाचक अथवा अव्यय आदि के नाम से प्रसिद्ध सभी शब्द क्रियावाची ही हैं। प्रत्येक शब्द से किसी-न किसी क्रिया का ही बोध होता है। अतएव जब पदार्थ जैसी क्रिया कर रहा हो, तब उस क्रिया के वाचक शब्द से उसे अभि· हित किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ—'अध्यापक' का अर्थ है—पढ़ाने की क्रिया करने वाला। अस्तु, जब कोई व्यक्ति यह क्रिया कर रहा है, तभी तो उसे अध्यापक कहा जा सकता है। जब वह खाता, सोता या चलता है, तब अध्यापन क्रिया नहीं करता और इस कारण उसे अध्यापक भी नहीं कहा जा सकता। अध्यापन क्रिया न करने पर भी यदि उसे अध्यापक कह दिया जाये तो फिर दुकानदारी या रसोइया को भी अध्यापक कहने में क्या हर्ज है?

इस प्रकार एवंभूत नय क्रिया को ही शब्द-प्रयोग का नियामक मानता है।

सात नयों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि नयवाद में अनन्त धर्मों के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक

धर्म को प्रधानता देकर कथन किया जाता है। उस समय वस्तु में शेष धर्म विद्यमान तो रहते हैं, किन्तु वे गौण हो जाते हैं। इस प्रकार सत्य के एक अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही 'नय' है।

नयों द्वारा प्रदर्शित सत्यांश और प्रमाण द्वारा प्रदर्शित अखण्ड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते हैं।

जैनागमों में नय-सिद्धान्त का निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है। अनेक ग्रन्थ केवल इसी विषय को समझाने के लिए लिखे गये हैं।

अनेकान्तवाद—जैन-संस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक एवं समन्वय सिद्धान्त के प्रणेता श्रमण भगवान् महावीर ने तत्त्व-विचार की एक मौलिक और अतिशय दिव्य पद्धति जगत् को प्रदान की। यही नहीं, उन्होंने वस्तु के सर्वांगीण स्वरूप को समझाने की सापेक्ष भाषा-पद्धति भी दी। उन्होंने बतलाया—"विचार अनेक हैं और बहुत बार वे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें भी एक सामंजस्य है, अविरोध है, और उसे जो भली-भाँति देख सकता है, वही वास्तव में तत्त्वदर्शी है।"

परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का आधार वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना है। एक मनुष्य जिस रूप से वस्तु को देख रहा है, उसका स्वरूप उतना ही नहीं है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है, पर वस्तु का स्वरूप असीम है। प्रत्येक वस्तु विराट है और

अनन्त-अनन्त अंशों, धर्मों, गुणों तथा शक्तियों का पिण्ड है। यह अनन्त अंश उसमें सत् रूप से विद्यमान है। यह वस्तु के सहभावी धर्म कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु द्रव्य-शक्ति से नित्य होने पर भी पर्याय शक्ति से क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन (पर्याय) एक-दो नहीं, हजार और लाख भी नहीं, बल्कि अनन्त हैं, और वे भी वस्तु के ही अभिन्न अंश हैं। यह अंश क्रमभावी धर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी पर्यायों का समूह एक वस्तु है। मगर वस्तु का वस्तुत्व इतने में ही समाप्त नहीं होता, वह तो इससे भी विशाल है।

जैसे सिक्के के दो बाजू होते हैं और दोनों बाजू मिलकर ही पूरा सिक्का बनता है। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत्ता और असत्ता दोनों अंशों के समुदाय से बना है। अभी जिन धर्मों और पर्यायों का उल्लेख किया गया है, वे सब तो सिर्फ सत्ता अंश हैं। असत्ता-अंश इससे भी विराट हैं और यह भी वस्तु का अंग ही है।

किसी भी पदार्थ में इतर पदार्थों की अभाव रूप से पाई जाने वाली वृत्ति, वस्तु का असत्ता अंश है।

स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लीजिए। घट आपके सामने है। आप आँखों से घट का रूप और आकार ही देख पाते हैं। मगर घट सिर्फ रूप और आकार मात्र नहीं।

यदि आप घट को ऊँचा उठाएँगे तो आपको उसके कुछ अधिक धर्म प्रतीत होंगे, उसका गुरुत्व मालूम होगा, चिकनापन

प्रतीत होगा और भी कुछ मालूम हो सकता है। मगर घट का यह स्वरूप पूरा नहीं होगा।

घट का पूरा स्वरूप समझने के लिए आप किसी तत्त्व-ज्ञान की शरण लीजिए। वह आपको यह बताएगा कि घट में जैसे—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले गुण हैं; उसी प्रकार इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाले गुण भी हैं और ऐसे गुण अनन्त हैं।

अब आपने समझ लिया कि घट में अनन्त गुण विद्यमान हैं। फिर भी क्या एक घट का स्वरूप पूरा हो गया? तत्त्वज्ञानी कहेगा—"जी नहीं, अभी तो घट का आधा स्वरूप भी आपने नहीं समझा!" घट इससे भी कहीं विराट् है। यहाँ तक तो घट में सदैव रहने वाले (सहभावी) गुणों की ही बात हुई। मगर घट में अनन्त धर्म ऐसे भी हैं, जो सदैव विद्यमान नहीं रहते, जो उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। ऐसे धर्म क्रमभावी धर्म कहलाते हैं। उन्हें पर्याय भी कहते हैं।

अच्छा घट, अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी धर्मों का पिण्ड है। यह जान लेने पर तो घट का पूरा स्वरूप जान लिया, कहा जा सकता है।

तत्त्वज्ञानी कहेगा—"नहीं, यह तो घट की एक ही बाजू है। इसे सत्ता की बाजू समझिए, अभी असत्ता की दूसरी बाजू तो अछूती ही रह गई है।"

वह असत्ता की बाजू क्या है? घट—घट है, यह सत्ता की

बाजू हैं, और घट—पट नहीं, मुकुट नहीं, शकट नहीं, लकुट नहीं, घट के सिवाय और कुछ भी नहीं, यह असत्ता की बाजू है। तात्पर्य यह है कि घट में घट से भिन्न जगत् के समस्त पदार्थों की असत्ता रूप से जो वृत्ति है, वह भी घट का ही असत्ता रूप स्वभाव है। घटेतर पदार्थ अनन्त हैं, अतएव घट के असत्ता-धर्म भी अनन्त हैं।

इन सद्भाव और अभाव रूप धर्मों को जान लेना ही घट को पूरी तरह जान लेना कहलाता है। यह अनन्त-धर्म ज्ञान के बिना नहीं जाने जा सकते। अतएव शास्त्र कहता है—

"जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।"

अर्थात्—"जो एक पदार्थ को जनता है, वह सबको जान लेता है और जो सबको जानता है, वही एक को जान सकता है।"

यद्यपि जगत् में मूलभूत तत्त्व दो ही हैं—जीव-चेतनात्मक और अजीव-अचेतनात्मक। किन्तु दोनों ही अपने-अपने स्वभाव में, गुणों में और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं।

बात कठिन-सी मालूम होती है, मगर सत्य की आत्मा को पूरी तरह समझ लेना सरल नहीं है। फिर भी मनुष्य दृष्टि-सम्पन्न हो, तो दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं से भी वह बहुत सीख सकता है।

मिट्टी के एक कण को लीजिये। एक-एक कण में अनन्त-अनन्त स्वभावों का सम्मिश्रण है। उसका एक स्वरूप नहीं, एक

आस्वाद नहीं, एक रंग-रूप नहीं। एक फुट वर्गाकार भू-खण्ड में किसान कभी कड़वी, तीखी और चरपरी मिर्च बोता है, कभी मधुर ईख बोता है और कभी संतरे या नींबू का पेड़ लगाता है। ये सभी चीजें मिट्टी के उन कणों में से ही अपना-अपना पोषण, स्वाद, रूप, रंग, सब कुछ प्राप्त करती हैं। मिट्टी एक है। खाने में चाहे मिट्टी का स्वाद मिट्टी जैसा है, किन्तु भिन्न बीजों की शक्ति, उसी मिट्टी में से अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वभावानुकूल अभीष्ट तत्त्व को खींच लेती है। ऐसी स्थिति में अगर कोई कहता है कि मिट्टी कटुक ही है, तो उसका ऐसा कहना असत् व्याख्यान होगा और यदि कोई यही गांठ बांधकर बैठ जाए कि मिट्टी में एक ही स्वाद होता है और एक ही रंग-रूप होता है, तो यह होगी—आग्रह की जड़ता। यद्यपि यह कथन तत्त्व के नाते सापेक्ष सत्य हो सकता है, तथापि गुण और पर्याय के नाते वह मिथ्या ही रहेगा।

यह हुई जड़ पदार्थ की बात। अब एक चेतन पुरुष के विषय में भी विचार कर लीजिए, एक ही पुरुष के कितने नाते होते हैं? वह किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, श्वसुर, देवर, जेठ, मामा, भागिनेय, दादा और पौत्र है। न जाने कितने सम्बन्धों का अम्बार उस अकेले पर लदा है? परिवार के बाहर वह दूकानदार है, ग्राहक है, साहूकार है, देनदार है, गुरु है, शिष्य है, किसी संस्था का मंत्री, कोषाध्यक्ष और सभापति है। न जाने क्या-क्या है? इस प्रकार एक पुरुष अनेक रूपों में हमारे समक्ष आता है। यद्यपि पितृत्व और पुत्रत्व आदि

धर्म परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। मगर अपेक्षाभेद उस विरोध का मथन कर देता है। अनेकान्त की खूबी ही यह है कि प्रतीत होने वाले विरोध का वह निवारण कर दे।

तो जिस प्रकार एक पुरुष में परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत्ता-असत्ता, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि धर्म भी विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत हैं और उनमें कुछ भी विरोध नहीं है। इस तथ्य को समझ लेना ही अनेकान्तवाद को समझ लेना है।

तत्त्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि अपनायी जाए तो धार्मिक संघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथों की चौकाबन्दी और सम्प्रदायों का कलह मानव-संस्कृति की आत्मा को आघात नहीं पहुंचा सकता। इससे समत्वदर्शन की परम पूत प्रेरणा को बल मिलता है और मनुष्य की दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी बनती है।

समाज-नीति, कला और व्यापार के क्षेत्र में और साथ ही घरेलू सम्बन्धों में तो अनेकान्त को ही स्वीकार करती है। वह एक ऐसी अनिवार्य तत्त्व-व्यवस्था है कि उसे स्वीकार किये बिना एक पग भी नहीं चला जा सकता। फिर भी विस्मय की बात यह है कि दार्शनिक जगत् उसे सर्वमान्य नहीं कर सका। दार्शनिकों को इससे बड़ी दूसरी कोई दुर्बलता और असफलता शायद नहीं हो सकती।

कौन है जो पदार्थ का उपयोग करता हुआ, मिट्टी के नानात्व को स्वीकार न करता हो। एक ही मिट्टी घट, ईंट, प्याला आदि नाना रूपों में हमारे व्यवहारों में आती है। आम अपने जीवन-काल में अनेक रूप पलटता रहता है। कभी कच्चा, कभी पक्का, कभी हरा और कभी पीला, कभी कठोर और कभी नरम, कभी खट्टा और कभी मीठा होता है। यह उसकी स्थूल अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था नष्ट होकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति में दीर्घकाल में क्या वह आम ज्यों का-त्यों बना रहता है? और सहसा हरे से पीला तथा खट्टे से मीठा हो जाता है? नहीं, आम प्रतिक्षण अपनी अवस्थाएँ पलटता रहता है। मगर वे क्षण-क्षण पलटने वाली अवस्थाएं इतने सूक्ष्म अन्तर को लिये हुए होती हैं कि हमारी बुद्धि में नहीं आतीं। जब वह अन्तर स्थूल हो जाता है, तभी बुद्धि-ग्राह्य बनता है।

इस प्रकार असंख्य क्षणों में असंख्य अवस्था-भेदों को धारण करने वाला आम आखिर तक आम ही बना रहता है।

इस तथ्य को जैन-दर्शन इस प्रकार व्यक्त करता है कि— पदार्थ की मूल सत्ता ही, जो एक होने पर भी अनेक रूप धारण करती है। पदार्थ का मूल रूप द्रव्य है और उसके क्षण-क्षण पलटने वाले रूप—पर्याय हैं। उसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक पदार्थ के दो रूप हैं – अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग— द्रव्य और बहिरंग रूप—पर्याय कहलाता है। पदार्थ का अन्तरंग रूप एक है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है और बहिरंग रूप अनेक, अनित्य और परिवर्तनशील है।

द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मों का समन्वित पिण्ड है। चाहे वह जड़ हो या चेतन, सूक्ष्म हो या स्थूल—उसमें विरोधी धर्मों का अद्‌भुत सामंजस्य है। इसी सामंजस्य पर पदार्थ की सत्ता टिकी है। ऐसी स्थिति में वस्तु के किसी एक ही धर्म को अंगीकार करके और दूसरे धर्मों का परित्याग करके वास्तविक वस्तु स्वरूप को आंकने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है और अपूर्णता में पूर्णता मानकर सन्तोष कर लेना प्रवंचना मात्र है।

अनेकान्तवादी का दृढ़ विश्वास है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। मिट्टी का मूल द्रव्य नवीन नहीं बनाया जा सकता है। हाँ, उसका रूपान्तर स्वतः भी और दूसरों के प्रयोग से भी होता रहता है।

बस, यही द्विविधात्मक पदार्थ की स्थिति है, जिसे ऐकान्तिक आग्रह से नहीं समझा जा सकता।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विचार में उठे हुए अनेकविध दृष्टिकोणों को समुचित रूप से समन्वित करने की आवश्यकता होती है। उसी आवश्यकता ने नयवाद की विचारसरणि को प्रस्तुत किया है।

स्याद्वाद—पिछले प्रकरण में अनेकान्तवाद के विषय में विचार किया गया है। पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से वस्तु को समझना और एक ही वस्तु में विभिन्न दृष्टिकोणों से संगत होने वाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को प्रामाणिक रूप से ही स्वीकार करना 'अनेकान्तवाद' है। साधारण तौर पर अनेकान्त सिद्धान्त ही स्याद्वाद कहलाता है, किन्तु वास्तव में

अनेकान्त सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली सापेक्ष भाषा-पद्धति ही 'स्याद्वाद' है। जब हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान हैं और उन समस्त धर्मों का अभिन्न समुदाय ही वस्तु है, तो उसे व्यक्त करने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। यह अनेकान्त की भाषा ही 'स्याद्वाद' है।

भाषा शब्दों से बनती है और शब्द धातुओं से बनते हैं। एक धातु भले ही मोटे तौर पर अनेकार्थक मानी जाती हो, परन्तु एक काल में और एक ही प्रसंग में वह अनेक अर्थों का द्योतन नहीं कर सकती, अतएव उससे बना एक शब्द भी एक ही धर्म का बोध कराता है। हमारे पास कोई एक शब्द नहीं, जो एक साथ अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का सापेक्षात्मक भाषा से कथन किया जाए। 'घट है' कहकर हम घट के परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि इस वाक्य द्वारा घट के केवल अस्तित्व धर्म का ही बोध होता है। घट में अस्तित्व की तरह नास्तित्व आदि जो असंख्य धर्म हैं, उनका इससे बोध नहीं होता। अतएव यह वाक्य की अधूरी जानकारी देता है। यही नहीं, घट में जो अस्तित्व है, वह भी सर्वथा सत्य नहीं, किन्तु एक दृष्टिकोण से ही है। यह बात भी इस वाक्य से ध्वनित नहीं होती।

प्रश्न होता है कि—एक ही शब्द एक धर्म का बोधक होता है, किन्तु वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसका किसी भी एक शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में दो बातें हो सकती हैं—या तो एक वस्तु को पूरी तरह कहने के लिए अनन्त शब्दों का प्रयोग किया जाए अथवा मौन साधकर बैठा जाए।

अनन्त शब्दों का प्रयोग करना सम्भव नहीं है और मौन साध लेने से जगत् के सब व्यवहार ठप्प हो जाते हैं। फिर अपने अभिप्राय को प्रकट करने का मार्ग क्या है ?

जैन दार्शनिकों ने बहुत विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर दिया है। यहाँ संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—स्याद्वादी जब वस्तु का अस्तित्व प्रकट करता है तो वह केवल 'अस्ति' (है) न कहकर 'स्यादस्ति' कहता है। 'अस्ति' के साथ 'स्यात्' जोड़ देने से वस्तु में रहे हुए नास्तित्व आदि का निषेध भी नहीं होता और अस्तित्व का विधान भी हो जाता है।

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद'—इन दोनों शब्दों के मेल से बना है। 'स्यात्' एक अव्यय हैं, जिसका अर्थ है—'कथंचित्'—किसी अपेक्षा अथवा अमुक दृष्टिकोण से। कुछ लोगों को भ्रम है कि 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' है और इस कारण 'स्याद्वाद' संशयवाद है, किन्तु यह उनका भ्रम है। 'स्याद्वाद' में जो कुछ भी है, वह 'निश्चित' है। "यह पिता है अथवा पुत्र है"—इस प्रकार का अनिर्णीत ज्ञान संशय कहलाता है। मगर "यह व्यक्ति अपने पिता कर्मचन्द्र की अपेक्षा से पुत्र है और अपने पुत्र देवदास की अपेक्षा से पिता है"—इस प्रकार सापेक्ष कथन में संशय के लिए कोई अवकाश नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अपने निज के स्वरूप से सत्ता है तो पर के रूप से असत्ता भी है। 'घट-घट है', यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है कि—'घट-पट नहीं है।' यहाँ जिस प्रकार घट विषयक अस्तित्व घट का ही स्वरूप है, उसी प्रकार पट-विषयक

नास्तित्व भी घट का ही स्वरूप है, अतएव प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् रूप है।

इसी प्रकार घट न एकान्त रूप से नित्य है और न एकान्त से अनित्य है। द्रव्य के लिहाज से नित्य है, तो पर्याय के लिहाज से अनित्य है।

इस प्रकार वस्तु में जितने भी धर्म हैं, सब साक्षेप हैं। जिस अपेक्षा से जिस धर्म का विधान किया जाता है, उसी अपेक्षा को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इस छोटे से 'स्यात्' अव्यय में अद्भुत चमत्कार भरा है। वह समस्त विरोधियों को नष्ट कर देता है और हमें सम्पूर्ण सत्य की झाँकी दिखाता है।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्तात्मक वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को स्वरूप को प्रकट करने के लिए 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

जब हम वस्तु को 'नित्य' कहते हैं तो हमें किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे उसमें रही हुई अनित्यता का निषेध न हो जाए। इसी प्रकार जब 'अनित्य' कहते हैं, तब भी ऐसे शब्द का प्रयोग करना उचित है, जिससे नित्यता का विरोध न हो जाए। यही बात अन्य धर्मों—सत्ता, असत्ता, एकत्व, अनेकत्व आदि का कथन करते समय भी समझनी चाहिए। संस्कृत भाषा में ऐसा शब्द 'स्यात्' है। 'कथंचित्' शब्द का भी उसके स्थान पर प्रयोग होता है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर 'हाँ' या 'ना' में दिया जाता है। इन्हीं दोनों के आधार पर 'सप्त-भंगी' योजना हुई है। वह सात भंग यह हैं—

१. अस्ति—(है)

२. नास्ति—(नहीं है)

३. अस्ति-नास्ति—(है, नहीं है)

४. अवक्तव्य—(नहीं कहा जा सकता)

५. अस्ति अवक्तव्य—(है, नहीं कहा जा सकता)

६. नास्ति अवक्तव्य—(नहीं है, नहीं कहा जा सकता)

७. अस्ति, नास्ति अवक्तव्य—(है, नहीं अवक्तव्य है)

१—स्यादस्ति—प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भाव से है।

२—स्यान्नास्ति—प्रत्येक वस्तु पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से नहीं है।

इन दोनों भंगों का आशय यह है कि घट (और समस्त पदार्थ) हैं तो अवश्य, परन्तु वह घट मिट्टी की अपेक्षा से है। जिस जगह है, उसी जगह है, जिस काल में है, उसी काल की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से है। वह घट पर द्रव्य से नहीं है, अर्थात् वह सुवर्ण द्रव्य की अपेक्षा नहीं है—सोने का नहीं है, जहाँ है उसके सिवाय दूसरी जगह नहीं है, जिस काल में है उससे भिन्न काल में नहीं और जिस रूप में है उससे भिन्न रूप में नहीं है।

यह दो भंग ही अगले पाँचों भंगों के आधार हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से उनका निर्माण हुआ है।

३—स्यात्, अस्ति नास्ति—इस भंग द्वारा वस्तु का उभय-मुखी कथन किया जाता है, अर्थात् यह प्रकट किया जाता है कि वस्तु क्या है और क्या नहीं है? प्रथम भंग केवल अस्तित्व का और दूसरा भंग केवल नास्तित्व का विधान करता है, जबकि यह भंग दोनों का विधान करता है।

४— स्यात् अवक्तव्य— प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से सदा अवक्तव्य है। उसका परिपूर्ण स्वरूप किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं जो अनन्त धर्मों का कथन कर सके। यहीं नहीं, पहले और दूसरे भंग में जिन अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया गया है, उनका भी एक साथ कथन नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिये यह चौथा भंग है।

५.स्यात् अस्ति, अवक्तव्य—स्वरूप के सत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप से अवक्तव्य है।

६. स्यात् नास्ति, अवक्तव्य—पर रूप से असत् होते हुए भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

७. स्यात् अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य—स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

इस विषय को व्यावहारिक पद्धति से समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया जाता है। आप किसी रोगी की हालत

पूछने के लिए गए । आपने पूछा—"रोगी का क्या हाल है ?" इस प्रश्न का उत्तर सात विकल्पों (भंगों) में इस प्रकार दिया जा सकता है—

१. स्वास्थ्य ठीक है (अस्ति) ।

२. अभी अवस्था ठीक नहीं (नास्ति) ।

३. कल से अब ठीक है, तो भी भय से मुक्त नहीं (अस्ति-नास्ति) ।

४. कुछ कहा नहीं जा सकता कि हालत ठीक है या नहीं (अवक्तव्य)

५. हालत कुछ ठीक है, परन्तु कहा नहीं जा सकता कि आखिर क्या होगा (अस्ति अवक्तव्य) ।

६. हालत ठीक नहीं, नहीं कहा जा सकता कि आखिर क्या होगा (अस्ति-नास्ति अवक्तव्य) ।

७. हालत कल से ठीक है, फिर भी ठीक नहीं कही जा सकती । नहीं कह सकते कि आखिर क्या होगा (अस्ति-नास्ति अवक्तव्य) ।

इस प्रकार वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन हो सकता है । जैसे अस्तित्व-धर्म के सात भंग ऊपर बतलाये गए हैं, उसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों को लेकर भी सात भंग होते हैं । पूर्वोक्त रीति से उन्हें समझा जा सकता है ।

विश्व की विचारधाराएं एकान्त कीचड़ में फंसी हैं। कोई वस्तु को एकान्त नित्य मानकर चल पड़ा है, तो दूसरा एकान्त अनित्यता का समर्थन कर रहा है। कोई इससे आगे बढ़ा भी तो उसने वस्तु के नित्या-नित्य स्वरूप को गड़बड़-झाला समझ कर अव्याकृत या अवक्तव्य कहकर पिण्ड छुड़ा लिया, फिर भी इन सबने अपने मन्तव्य की पूर्ण सत्यता पर बल दिया, यही संघर्ष का कारण बना।

जैन-दर्शन अनेकान्त के रूप में तत्त्व-ज्ञान को यथार्थ दृष्टि प्रदान कर एक ओर सत्य का दिग्दर्शन करता है, तो दूसरी ओर दार्शनिक जगत् में समन्वय के लिये सुन्दर आधार तैयार करता है।

स्याद्वाद, जैन-दर्शन का प्राण है और उसके प्रत्येक विधान में स्याद्वाद का पुट रहता है। सूत्रकृतांग सूत्र में निर्देश किया गया है कि साधु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् 'स्याद्वाद पद्धति' का अवलम्बन लेना चाहिए। भगवान् महावीर ने चौदह प्रश्नों के उत्तर, जिन्हें बुद्ध 'अव्याकृत' कहते थे और उपनिषदों के रहस्यपूर्ण गूढ़ प्रश्नों के उत्तर, स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन करके दिये हैं।

निक्षेप—जगत् के व्यवहार और ज्ञान के आदान-प्रदान का मुख्य साधन भाषा है। भाषा के बिना मनुष्यों का व्यवहार नहीं चल सकता और न विचारों का आदान प्रदान-ही हो सकता है। मनुष्य के पास अगर व्यक्त भाषा का साधन न होता, तो उसे

आज जो सभ्यता, संस्कृति और तत्व-ज्ञान की अमूल्य निधि प्राप्त हुई है, उसकी कल्पना करना भी अशक्य होता और मनुष्य तथा पशु में अधिक अन्तर न रह जाता।

भाषा केवल बोलने का ही साधन नहीं, अपितु विचार करने का भी माध्यम है। जन्मगत परिपुष्ट भाषा, जो हमारे अन्तःकरण में सुदृढ़ता से स्थित हो जाती है, उसी में हम चिन्तन-मनन करते हैं।

भाषा का शरीर वाक्यों से निर्मित होता है और वाक्य—शब्दों से। प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त हुआ शब्द, प्रसंग, आशय, विषय, स्थान, अवसर और वातावरण के अनुसार कितने ही प्रकार के अभिप्रायों को अभिव्यक्त करता है। अतएव शब्द के मूल और उचित अर्थ को जानने के ढंग जैनागमों में निश्चित किये गये हैं। शब्दों की मार्मिकता, लाक्षणिकता, प्रांजलता और अभिव्यंजनाशक्ति का विस्तृत विवेचन व्याकरण और साहित्य-विषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ठीक तरह से कैसे ज्ञान किया जाए ? इसके लिए जैन-धर्म में निक्षेप का विधान किया गया है। निक्षेप का सामान्य अर्थ है—निक्षेपण करना या रखना। भगवान् महावीर कहते हैं कि शब्द के विवक्षित अर्थ को जानने के लिए अनेक प्रकार के निक्षेपों का विधान हो सकता है, किन्तु कम-से-कम चार निक्षेपों से काम चल सकता है, क्योंकि प्रत्येक

शब्द कम-से-कम चार अर्थों में तो प्रयुक्त होता ही है।

वक्ता या लेखक, शब्द को प्रायः चार प्रकार के अर्थों के लिए प्रयुक्त करता है; जैसे—नाम, स्थापना, द्रव्य अथवा भाव। इन चार अर्थों में से शब्द को वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थों में निक्षेपण करना ही निक्षेप कहलाता है। भाषा के प्रत्येक शब्द पर उन्हें घटित किया जा सकता है। यहां 'राजा' शब्द को ही लीजिए।

१. **नाम-निक्षेप**—माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'राजा' रख दिया। वास्तव में वह राज्य का उपभोग नहीं करता। यहां तक कि राजतन्त्र का विरोधी है, उसमें राजा के योग्य गुण भी नहीं हैं, फिर भी वह राजा कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को जब राजा कहा जाता है तो वह 'नाम-निक्षेप' से राजा कहलाता है।

नाम-निक्षेप में वस्तु के गुण-धर्म का विचार नहीं किया जाता, केवल लोक-व्यवहार की सुविधा के लिए शब्द रूढ़ कर लिया जाता है। इस कारण 'राजा' नाम वाला पुरुष राजा शब्द के पर्यायवाचक नृपति, भूपति, नरेश आदि शब्दों द्वारा अभिहित नहीं किया जाता।

नाम-शब्द तीन प्रकार के होते हैं—

१. **यथार्थ नाम**—जैसे जल में उत्पन्न होने के कारण 'जलज' चैतन्यवान् होने के कारण 'चेतन' आदि नाम।

२. **अयथार्थ-नाम**—जैसे अन्धे का नाम 'नयनसुख' अथवा हीराचन्द मोतीचन्द आदि।

३. **अर्थ-शून्य नाम**— जैसे वाद्य-ध्वनि, खाँसी, छींक आदि ।

२. **स्थापना-निक्षेप**—किसी वस्तु में अन्य वस्तु का आरोप करना—'स्थापना-निक्षेप' है। जैसे—राजा की मूर्ति या उसका चित्र भी राजा कहलाता है। यद्यपि उस मूर्ति या चित्र में राजा का कोई गुण नहीं है, तथापि उसमें राजा का आक्षेप किया जाता है। जब कोई राजा की मूर्ति को राजा कहता है तो समझना चाहिए कि वह 'स्थापना-निक्षेप' है।

स्थापना-निक्षेप के लिए प्राचीन युग में काष्ठ, मृत्तिका, वस्त्र, प्रस्तरपत्र आदि पर चित्र बनाकर अथवा अन्य प्रकार से किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता था। आज भी मूर्ति या 'स्टेच्यु' बनाए जाते हैं।

३. **द्रव्य-निक्षेप**- जो पहले राजा था, अथवा भविष्य में राजा बनने वाला है, वर्तमान में नहीं है, उसे भी 'राजा' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार भूतकालीन या भविष्यत् कालीन पर्याय का वर्तमान में आरोप करना 'द्रव्य-निक्षेप' कहलाता है।

४. **भाव-निक्षेप**- जो मनुष्य राज्य कर रहा है, वह भी राजा कहलाता है। इस प्रकार वर्तमान पर्याय को लक्ष्य करके जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसे 'भाव-निक्षेप' कहते हैं। जब व्युत्पत्ति-निमित्त अथवा प्रवृत्ति से वर्तमान में पूरा अर्थ घटित होता है, तभी वह 'भाव-निक्षेप' कहा जा सकता है।

अप्रकृत, अप्रस्तुत और अविवक्षित अर्थ का निराकरण करके प्रकृत, प्रस्तुत और विवक्षित अर्थ का विधान करना निक्षेप विधि का प्रयोजन है।

जहाँ-कहीं, 'महावीर' शब्द आया कि आप भगवान् महावीर को ही समझ लें तो बहुत बार अनर्थ होने की सम्भावना है। इस अनर्थ से बचने के लिए अगर आप निक्षेप-विधि से 'महावीर' शब्द का विश्लेषण कर डालें और समझ लें कि वक्त का नाम महावीर, स्थापना-महावीर, द्रव्य-महावीर और भाव-महावीर में से किस महावीर से अभिप्राय है, तो आप सही अभिप्राय समझ सकेंगे और अनर्थ से बच जायेंगे। इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रों में निक्षेपों का विधान किया गया है।

स्मरण रहे कि चारों निक्षेपों में से भाव-निक्षेपों को ही महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक स्वीकार किया गया है।

अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्त-भंगी, जैन-दर्शन के ये मुख्य सिद्धान्त हैं। इनका ज्ञान करने के लिए बहुत गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। एक-एक विषय पर अनेकानेक स्वतन्त्र ग्रन्थ विद्यमान हैं। इसी प्रकार प्रमाण, नय और निक्षेप भी बहुत ही गम्भीर विषय हैं। इन विषयों पर भी अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जो सज्जन उक्त विषयों पर गम्भीर और विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे संस्कृत और प्राकृत भाषा में लिखित मूल ग्रन्थों का अध्ययन करें। नव-तत्त्व और षड्-द्रव्य भी बहुत गम्भीर विषय हैं, परन्तु उनका यहाँ पर

परिचय मात्र दिया जा रहा है। षड्-द्रव्य और नव-तत्त्व का वर्णन इस प्रकार है—

द्रव्य व्यवस्था

१. **द्रव्य मीमांसा**— द्रव्य अथवा तत्त्व का बोध जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंग है। श्रमण-संस्कृति के तत्त्व-निरूपण का उद्देश्य जिज्ञासापूर्ति नहीं, चारित्र-लाभ है। इस ज्ञानधारा का उपयोग, साधक आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिबन्धक तत्त्वों के उच्छेद के लिए करता है।

जैन-धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका साहित्य निगूढ़ वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत करता है। द्रव्य-व्यवस्था जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान जैन विज्ञान के अकाट्य तथ्यों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता जा रहा है। जैन तत्त्व-ज्ञान और आधुनिक विज्ञान की समानताएं अनेक बार विद्वानों के विस्मय का विषय बन जाती है। भौतिक साधनों के सहारे तत्त्व-अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिकों से आत्म ज्ञानी महात्मा कहीं आगे भी बढ़ गये— यही तो आत्मसाक्षात्कार करने वाले दिव्य द्रष्टाओं का चमत्कार है।

किन्तु जहाँ दोनों के तत्त्व-निरूपण में बहुत कुछ साम्य है, वहीं से दोनों के उद्देश्य में बहुत बड़ा वैषम्य भी है। जैन-धर्म के अनुसार तत्त्व ज्ञान मुक्ति-लाभ का एक अनिवार्य साधन है, जब कि विज्ञान का लक्ष्य विज्ञान ही है।

प्रत्येक विचार स्याद्वाद से परिमार्जित हो और प्रत्येक आचार अहिंसा से परिपूरित हो तो साधक के मुक्ति-लाभ में कुछ विलम्ब नहीं रहता, इसी कारण चरित्र से भी पूर्व तत्त्व-ज्ञान को स्थान दिया गया है।

२. **द्रव्य क्या है ?** – 'द्रव्य' शब्द 'द्रव' धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ है कि द्रवित होना, प्रवाहित होना। संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत् गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन स्वरूप निश्चित होते हैं—उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव बना रहना।

कुम्भकार खेत में से मिट्टी लाता है और घड़ा बनाता है। तब घड़े की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका का नाश हो जाता है। मृत्तिका और घट, दोनों अवस्थाओं में विद्यमान सामान्य तत्त्व ध्रौव्य हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रजनन और विनाश की अविरत गतिशील धारा में भी पदार्थ का मूल स्थायी रहता है। इसी ज्ञान को भगवान् महावीर ने 'मातृका-त्रिपदी' कहा है। इन तीन अंशों का समन्वय होना ही सत् का लक्षण है। इस असीम और अनन्त विश्व का कण-कण तीनों अंशों से समन्वित है, जिसमें यह तीनों अंश नहीं, ऐसी किसी वस्तु की सत्ता सम्भव नहीं है।

३. **विश्व का मूल**—तात्त्विक और मौलिक दृष्टि से विश्व का विश्लेषण किया जाय तो दो तत्त्व या द्रव्य उपलब्ध होते

हैं—चेतन और जड़। कतिपय दार्शनिक जगत् के मूल में एकमात्र चैतन्यमय तत्त्व की सत्ता अंगीकार करते हैं, तो दूसरे एकमात्र जड़-तत्त्व की। मगर जैन धर्म न अद्वैतवादी है और न आत्मवादी। अतएव वह दोनों तत्त्वों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। जड़ तत्त्व में इतनी विविधता एवं व्यापकता है कि उसे समझने के लिए थोड़े से पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतएव उसके पांच विभाग कर दिये गए हैं। जीव के साथ उन पांच प्रकार के अजीवों की गणना करने से सत् पदार्थों की संख्या छः स्थिर होती है। वे सत् पदार्थ ये हैं—(१) जीवास्तिकाय, (२) पुद्गलास्तिकाय, (३) धर्मास्तिकाय, (४) अधर्मास्तिकाय, (५) आकाशास्तिकाय, और (६) काल।

सत् का दूसरा नाम द्रव्य है। यह समग्र चराचर लोक इन्हीं षड् द्रव्यों का प्रपंच है। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। द्रव्य नित्य है, अतएव लोक भी नित्य है। उसका किसी भी भौतिक लोकोत्तर शक्ति द्वारा निर्माण नहीं किया गया है। अनेक कारणों से समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुआ करते हैं, परन्तु मूल द्रव्यों का न तो नाश होता है और न उत्पाद ही। इसी कारण जैन-धर्म अनेक मुक्तात्मा (ईश्वरों) की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी उन्हें सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानता।

जीव और पुद्गल आदि को द्रव्य कहने का कारण, उनका विविध परिणामों से द्रवित होना है। परिणाम या पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता और बिना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता।

४. पृथक्करण - हम जिसे वस्तु कहते हैं, उसमें तीन अंश विद्यमान होते हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। वस्तु का नित्य अंश 'द्रव्य' है, सहभावी अंश 'गुण' है और क्रमभावी अंश 'पर्याय' है। एक उदाहरण के द्वारा इन तीनों का स्वरूप समझें—जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान चैतन्य-गुण है और मनुष्य, पशु, कीट-पतंग आदि दशाएं पर्याय हैं। ये तीनों अंश सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते है और वस्तु कहलाते हैं।

संक्षेप में द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से मुक्त हो, अथवा जो उत्पाद और विनाश से मुक्त होकर या अपने मूल स्वरूप का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो।

वस्तुओं में पाई जाने वाली भिन्नता दो प्रकार की होती है। 'अन्यत्व रूप' और 'पृथक्त्व रूप'। दूध और दही की भिन्नता 'अन्यत्व रूप' और कागज तथा कलम की भिन्नता 'पृथक्त्व रूप' है। दूध और दही के पर्याय में अन्तर है, मगर मूल द्रव्य-प्रदेशों में नहीं, जब कि कागज और कलम के प्रदेश मूलतः पृथक्-पृथक् हैं। मनुष्य बालक है, युवा है, और वृद्ध है। इन दशाओं में अन्यत्व तो है, किन्तु पृथक्त्व नहीं, क्योंकि इन तीन अवस्थाओं में मूलगत मनुष्य एक ही है।

द्रव्य, गुण और पर्याय में भी पृथक्त्व रूप की भिन्नता नहीं है। द्रव्य की वह अनादि-निधन शक्तियां, जो द्रव्य में व्याप्त होकर वर्तमान में रहती हैं, 'गुण' कहलाती हैं और उत्पन्न-विनष्ट होने वाले विविध परिणाम 'पर्याय' कहलाते हैं। इन दोनों का समूह 'द्रव्य' कहलाता है।

उक्त छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त पांच द्रव्य 'अस्ति-काय' कहलाते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रदेशों के पिण्ड-रूप हैं। काल द्रव्य-प्रदेश-प्रचय रूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहलाता।

जीव-द्रव्य चेतन और शेष अचेतन हैं। पुद्गल-द्रव्य मूर्त, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श वाला है और शेष पाँच अमूर्त हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य और सक्रिय हैं। शेष चार द्रव्य क्रियाहीन हैं। समस्त लोक में व्याप्त होने के कारण उनमें गति-क्रिया सम्भव नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—एक-एक अखण्ड पिण्ड हैं, शेष द्रव्य ऐसे नहीं हैं।

५. जीव-द्रव्य—जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण वह अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होता है—चेतना है। चेतनावान् जीव अनन्त हैं, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीव हैं। जीव का अपना कोई आकार नहीं तथापि वह जब जिस शरीर में होता है, उसी के आकार का और उसी के बराबर होकर रहता है। एक जीव के असंख्य प्रदेश-अविभक्त अंश होते हैं और वे प्रकाश की तरह संकोच-विस्तारशील हैं। हाथी मर कर चिऊंटी के पदार्थ में जन्म लेता है, तो प्रदेश भी स्वभावतः सिकुड़कर चिऊंटी के शरीर में समा जाते हैं।

ज्ञाता, द्रष्टा, उपयोगमय, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त—यह सब जीव के विशेषण हैं। भगवान् महावीर कहते हैं—"हे गौतम ! जीव इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है।"

'हे गौतम ! जीव न लम्बा है, न छोटा, न गोल, न तिकोना,

न चौकोर, न परिमण्डल, न काला, नीला, पीला, रक्त, न श्वेत है। सुगन्ध और दुर्गन्ध उसका स्वरूप नहीं, खट्टा या मीठा आदि कोई रस उसमें नहीं है। कोमल और कठोर आदि सभी स्पर्श उससे दूर हैं। वह उत्पाद और विनाश से परे है। वह स्त्री नहीं, वह पुरुष नहीं, वह नपुंसक भी नहीं, बल्कि वह अरूपी सत्ता है। वह बुद्धि से नहीं, अनुभूति से ग्राह्य होता है। तर्कगम्य नहीं, स्व-संवेदनगम्य है। उसका परिपूर्ण-स्वरूप प्रकट करने में शब्द असमर्थ हैं।'

"हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, सामर्थ्य, उल्लास और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं।"

'अहम्' (मैं) प्रत्यय से जीव की प्रत्यक्षतः प्रतीति होती है। जीव का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अन्यान्य प्रमाण भी हैं, किन्तु 'अहम्' प्रत्यय सर्वोपरि प्रमाण है।

पहले कहा जा चुका है कि लोक में जीव अनन्त हैं। वे सब स्वभावतः समान शक्तियों के धारक हैं, किन्तु कर्मों एवं आवरणों ने उनमें अनेकरूपता उत्पन्न कर दी है। उसके आधार पर सर्व प्रथम जीव दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—संसारी और मुक्त ! समस्त आवरणों से रहित शुद्ध जीव 'मुक्त' और आवरणों के कारण अशुद्ध जीव 'संसारी' कहलाता है।

मुक्त जीव सभी प्रकार के बाह्य प्रभाव से रहित होने के कारण समान है; परन्तु संसारी जीवों में मुख्यतया कर्म-प्रभाव के कारण नाना प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं। कर्म-प्रभाव से जीव अर्द्ध-भौतिक जैसा बन गया है। जानने और देखने की अनन्त

शक्ति होने पर भी आंख के बिना देख नहीं सकता और कान के बिना सुन नहीं सकता।

संसारी जीव दो कक्षाओं में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। जिन्हें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव हैं। जिन्हें दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियां प्राप्त हैं, वे त्रस कहलाते हैं।

६. अजीव द्रव्य—जीव-द्रव्य के दिग्दर्शन के पश्चात् अजीव-द्रव्य की ओर ध्यान दें। जिसमें जीव के गुण, चेतना आदि नहीं हैं फिर भी जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से सम्पन्न हैं और जिसमें गुणों और पर्यायों की विद्यमानता है, वह अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। इन पांचों प्रकारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

धर्म द्रव्य—यहां 'धर्म' शब्द केवल जैन परम्परा में ही प्रचलित एक पारिभाषिक शब्द है। वह अमूर्त, अक्रिय, अखण्ड और लोकव्यापी द्रव्य है, फिर भी उसमें निरन्तर परिणमन होता रहता है। गतिक्रया में परिणत जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है, जैसे—पानी मछली की गति में, अथवा लोहे की पटरी रेल की गति में सहायक होती है, उसी प्रकार धर्म-द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक है। पानी मछली को और पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करते, फिर भी पानी के बिना मछली और पटरी के अभाव में रेल चल नहीं सकती। इसी प्रकार धर्म-द्रव्य किसी को गमन करने के लिए बाधित नहीं करता, फिर भी उसके अभाव में गति सम्भव नहीं है।

अधर्म-द्रव्य—यह द्रव्य भी धर्म-द्रव्य के समान ही है, परन्तु इसका काम जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना है। जैसे ताप से झुलसे हुए मनुष्य में, छाया देखकर विश्राम करने की रुचि स्वयमेव जागृत हो जाती है, अतएव छाया उसकी विश्रान्ति का निमित्त है, उसी प्रकार स्थिति-परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्म-द्रव्य सहायक है।

यद्यपि गति और स्थिति में जीव और पुद्गल स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनकी सहायता के बिना गति और स्थिति सम्भव नहीं है।

आकाश-द्रव्य—सब द्रव्यों को स्थान देने वाला द्रव्य—आकाश है। यह समस्त वस्तुओं का आधार है और आप ही अपने सहारे टिका है। उसका आधार कोई द्रव्य नहीं है। यह भी अमूर्त, अक्रिय और अखण्ड है। सर्वव्यापी है और नित्य होने पर भी परिणमनशील है। (वैज्ञानिक आकाश को 'स्पेस' कहते हैं। कान्ट और हीगेल आकाश को मानसिक व्यापार अथवा कल्पना मानते थे, किन्तु आइन्स्टीन ने सिद्ध किया है कि आकाश एक सत् पदार्थ है)।

आकाश के जितने भाग में धर्म और अधर्म-द्रव्य व्याप्त हैं, वह भाग लोकाकाश या लोक कहलाता है। जो भाग उनसे शून्य है, वह अलोकाकाश है। धर्म-अधर्म द्रव्यों से शून्य होने के कारण आलोकाकाश में जीव और पुद्गल का गमन या अवस्थान भी नहीं होता। अतएव अलोकाकाश, सूना आकाश ही आकाश है। आकाश का लोक-खण्ड परिमित है और अलोक-खण्ड सभी ओर अपरिमित और असीम है।

काल-द्रव्य—कहा जा चुका है कि सभी द्रव्य मूल स्वभाव से नित्य होने पर भी परिणमनशील हैं। यद्यपि अपने-अपने परिणमन में सब द्रव्य आप ही उपादान हैं, तथापि निमित्त कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। अतएव द्रव्यों के परिणाम में भी कोई निमित्त चाहिए। वही निमित्त 'काल-द्रव्य' है।

समस्त विश्व, काल की सत्ता के बल पर ही क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है। वस्तुएँ देखते-देखते नवीन से पुरातन और जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। यह काल का ही प्रभाव है। (फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्गसन ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic Reality है। काल के प्रबल अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है)। काल की सत्ता के अभाव में हम किसी को ज्येष्ठ और किसी को कनिष्ठ किस आधार पर कह सकते हैं?

पुद्गल द्रव्य—दृश्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है। ग्राम, नगर, भवन, वस्त्र, भोजन तथा विविध प्रकार के प्राणी वर्ग के शरीर आदि-आदि जो भी हमारी दृष्टि में आते हैं, वे सभी पुद्गल हैं। यद्यपि यह कहा नहीं जा सकता कि जो पुद्गल है, वह सब हमें दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो दृष्टिगोचर है वह पुद्गल ही है।

चय-अपचय होना और बनना-बिगड़ना—सब पुद्गल के ही रूप हैं। षट्-द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल ही मूर्त अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त है।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और

परमाणु । सम्पूर्ण पुद्गल 'पिण्ड-स्कन्ध' कहलाता है । स्कन्ध का एक भाग 'देश' कहलाता है । स्कन्ध और देश से जुड़ा हुआ अविभाज्य अंश 'प्रदेश' कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कन्ध या देश से पृथक् हो जाता है, तब 'परमाणु' कहलाता है ।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुनः विभक्त नहीं हो सकता । परमाणु में यद्यपि प्रदेश-भेद नहीं है, किन्तु गुण-भेद अवश्य होता है । उसमें एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं ।

आँख का पलक गिराने में जितना समय लगता है, उसके असंख्यातवें अंश को जैन-शास्त्र 'समय' की संज्ञा देते हैं । जैसे पुद्गल का सूक्ष्मतम पर्याय 'परमाणु' है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम भाग 'समय' है । परमाणु में अचिन्त्य वेग होता है, वह एक समय में सम्पूर्ण लोक को पार कर लेता है । जैन-शास्त्र बतलाते हैं कि परमाणु आग की भयानक लपटों में से गुजर कर भी जलता नहीं, पानी से गलता नहीं, सड़ता नहीं, हवा का उस पर असर होता नहीं, वह अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्वर है । हाँ, किसी स्कन्ध में जब मिल जाता है, तो उसका परमाणु—पर्याय नहीं रहता, तथापि उसकी सत्ता बनी रहती है । स्कन्ध के पृथक् होने पर वह पुनः परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है ।

जैन-धर्म का परमाणु-विज्ञान अत्यन्त विशद और गम्भीर है । जैन-साहित्य में जितना चिन्तन एवं विश्लेषण परमाणु के विषय में उपलब्ध है, उतना विश्व-साहित्य में कहीं अन्यत्र नहीं ।

कहा जाता है कि आज का युग परमाणु युग है, किन्तु जैन-परमाणु-विज्ञान को समझ लेने पर स्पष्ट हो जाएगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक अणु तक अभी तक नहीं पहुँच सके हैं। उसे पाने के लिए अब भी गहरा गोता लगाने की आवश्यकता है। अणु-भेद की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुतः स्कन्ध-भेद-पिण्ड-भेद हैं। अणु तो अविभाज्य है।

एक अणु का दूसरे अणु के साथ किस प्रकार संयोग, अर्थात् बन्ध होता है? विशेषताओं के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते हैं, यह जानने के लिए जैनागमों का अभ्यास करने की आवश्यकता है—(देखिये—भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थ सूत्र, आदि)।

शब्द परमाणु-जन्य नहीं, स्कन्ध-जन्य है। दो स्कन्धों के संघर्ष से शब्द की उत्पत्ति होती है। कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त्त आकाश का गुण कहते हैं, परन्तु अमूर्त्त का गुण मूर्त्त नहीं हो सकता। शब्द मूर्त्त है—यह जैन मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी समर्थित हो चुकी है। शब्द का कूप आदि में प्रतिध्वनित होना और ग्रामोफोन में बद्ध होना, उसके मूर्त्तत्व का प्रमाण है।

उपर्युक्त छः द्रव्यों का विस्तार ही यह 'जगत्' है। इसमें इनके अतिरिक्त कोई सातवाँ द्रव्य नहीं है।

आज के भौतिक जगत् में वैज्ञानिक उन्नति को देखकर आज का मानव उससे चकित हो गया है। परन्तु हमारे पुरातन आचार्यों ने भौतिक जगत् का जिस वैज्ञानिक और तर्क-संगत ढंग से वर्णन

किया है, उसकी बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने प्रशंसा की है । जैन-दर्शन के अनुसार यह दृश्यमान भौतिक जगत् जीव तथा पांच प्रकार के अजीव से बना है। इन षड्-द्रव्यों में समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। पुद्गल द्रव्य से हम समस्त भौतिक पदार्थों और शक्तियों को लेते हैं, जो दृश्य रूप हैं। जीव से हम उन समस्त चेतनाओं को ग्रहण कर लेते हैं, जो विभिन्न गतियों में, नाना योनियों में और सिद्ध रूप में विद्यमान हैं। आकाश, जो सर्वत्र व्याप्त है तथा काल जो सब की अनुभूति का विषय है—इन दो तत्त्वों को जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गल को भी अन्य दर्शन भी प्रकारान्तर से स्वीकार कर ही लेते हैं। परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय--ये दो तत्त्व केवल जैन-दर्शन में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार जैन-दर्शन की यह द्रव्य-व्यवस्था वैज्ञानिक और भारतीय तत्त्ववाद पर आधारित है।

तत्त्व-मीमांसा

पिछले प्रकरण में द्रव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुतः उसी में तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, क्योंकि जैसे मूल द्रव्य 'जीव' और अजीव दो हैं, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो हैं। फिर भी जैन-शास्त्रों में द्रव्य से पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्य-निरूपण सृष्टि का यथार्थ बोध प्राप्त कराने के लिए है, जबकि तत्त्व-विवेचन की पृष्ठ-भूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल विश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अंगभूत पदार्थों का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्व-ज्ञान के सहारे मुक्ति-साधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्व-ज्ञान के अभाव में कोरे द्रव्य-ज्ञान से मुक्ति-लाभ होना सम्भव नहीं है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व-विवेचन से ही संभव है। 'निग्गंठ नायपुत्त' महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जबतक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

जैन-धर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है—प्रयोजनभूत ज्ञान और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्म-ज्ञान ही 'प्रयोजन-भूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं कि जगत् कितना विशाल है और इसके उपादान क्या हैं ? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है ? सब आत्माएं तत्त्वतः समान हैं, तो उनमें वैषम्य क्यों दृष्टिगोचर होता है ? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है ? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है ? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है ? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है ? छुटकारा मिल जाने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति में रहती है ? इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए जैनागमों में तत्त्व का निरूपण किया गया है।

संक्षेप में यह कि द्रव्य-निरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एवं लौकिक है, और तत्त्व-निरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नव हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध और (९) मोक्ष।

यह जैन-धर्म का आध्यात्मिक मंथन तथा विकास के साधक और बाधक तत्त्वों का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इन्हीं तत्त्वों के आधार पर जीव के उत्थान-पतन, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएं हल करता है। इन तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **जीव**—जीव के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। जीव कहिये या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त्त होने पर भी कर्म-बन्ध के कारण मूर्त्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्म-बन्ध आत्मा को पराधीन और दुःखी बनाता है। आत्मा कर्म-उपार्जन करने में स्वतन्त्र है, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यों की भांति परिणामी नित्य है।

२. **अजीव**—अजीव का वर्णन पहले आ गया है। यह कहा जा चुका है कि जीव कर्म-बन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। यह भी देखना चाहिए कि जीव का कर्म-पुद्गलों के साथ क्यों और कैसे सम्बन्ध होता है?

३. **पुण्य**—"जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता

की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।" पुण्य एक प्रकार शुभ पुद्गल है, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना में सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति, सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नाम-कर्म पुण्य का ही फल है। पुण्य, मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भव-सागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

पुण्य के भी दो भेद हैं—द्रव्य-पुण्य और भाव-पुण्य। अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियों से पुण्य का उपार्जन होता है। विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुःखी प्राणियों के दुःख निवारण करने की भावना तथा तदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है और इन्हीं सद्गुणों को यदि सम्यक्-दृष्टि-पूर्वक सम्पादन किया जाय तो यह धर्म और निर्जरा के भी कारण बन जाते हैं।

४. **पाप**—जिस विचार, उच्चार एवं आचार से अपना और दूसरों का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह 'पाप' कहलाता है। पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दुःखमय बनाते हैं।

५. **आस्रव** - आत्मा में कर्मों का आना और उसके आने का कारण 'आस्रव' कहलाता है। मन, वचन और काय की वह सब

वृत्तियां, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, आस्रव हैं। आस्रव कर्म-बन्ध का कारण है।

आत्मा के लोक में आस्रव ही कर्मों का प्रवेश द्वार है। मुमुक्षु जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण कर्मों का आगमन होता है? उनको जाने बिना निरुद्ध रोका नहीं जा सकता और मुक्ति-लाभ भी नहीं लिया जा सकता।

६. संवर—मुमुक्षु जीव कर्मों के आस्रव के कारणों को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियों का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है। आस्रव का रुक जाना ही 'संवर' है। उदाहरणार्थ—यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्व-जन्य आस्रव रुक जाता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आचरण करने से अविरतिजन्य आस्रव नहीं होता, अप्रमत्त अवस्था में प्रमादजन्य आस्रव नहीं होता, वीतराग दशा प्राप्त कर लेने पर कषायजन्य आस्रव रुक जाता है और पूर्ण आत्म-निष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है।

कर्मास्रव का निरोध मन, वचन, काय के अप्रशस्त व्यापार को रोकने से, विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करने से, क्षमा आदि धर्मों का आचरण करने से अन्त:करण में विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योगक्रिया को सर्वथा निरुद्ध नहीं कर सकता। उठना-बैठना, खाना-पीना, सम्भाषण करना आदि जीवन

के लिये अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियों की मनाही नहीं करता, परन्तु इन पर अंकुश अवश्य लगाता है और वह अंकुश है—विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमें विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए। वे समस्त क्रियाएं आस्रव हैं, जिनके पीछे अविवेक काम करता है। इसके विपरीत विवेकपूर्ण की जाने वाली क्रियाएं—धर्म और 'संवरमय' हैं।

७. निर्जरा—संवर नवीन आने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी का आना 'आस्रव' है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना 'संवर' समझिए। परन्तु जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे तो धीरे-धीरे उलीचना ही पड़ेगा। बस, यही 'निर्जरा' है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना, पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना 'निर्जरा' तत्त्व है। कर्म-निर्जरा के दो प्रकार हैं—औपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तपः प्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से बलात् कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना—'औपक्रमिक निर्जरा' है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय में आना और फल देकर हट जाना 'अनौपक्रमिक निर्जरा' है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है, किन्तु साधक संवर द्वारा नवीन

आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है। वह अन्त में पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाता है।

संसार के अन्य पदार्थों की बात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी ममभाव नहीं रहता। वह अन्तःस्थ होकर स्वरूप-रमण में ही लीन रहता है। इसी कारण संयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण-भर में फल भोगे बिना ही भस्म कर देता है। अडोल एवं अकम्प साधक जगत् में रहता हुआ भी, जगत् से और देह में रहता हुआ भी, देह से ऐसा अलिप्त रहता है, जैसे कीचड़, पानी और आग में पड़ा हुआ सोना अपने स्वरूप में शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्म-संघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैन परिभाषा में इसे 'सकाम' निर्जरा' कहते हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते हैं और फल देने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। वह 'अकाम निर्जरा' है। साधारण संसारी प्राणी अकाम निर्जरा द्वारा ही कर्मों को जीर्ण करते हैं, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपार्जन कर लेते हैं, जिससे उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एवं अशान्त भाव से कष्ट भोगना, अकाम-निर्जरा है।

८. बन्ध—आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति कर्मों का मिल जाना 'बन्ध' कहलाता है। किन वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से कर्मों का आस्रव होता है? यह हम देख चुके हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कैसे होता है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्‌गल रूपी हैं। अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार सम्भव है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है, तथापि अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त संसारी प्राणी ने अब तक भी अपना अमूर्त स्वभाव प्राप्त नहीं किया है और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मबद्ध नहीं होता।

खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ कब संयोग हुआ? यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहले कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इसका सम्बन्ध अनादि-कालीन है।

जैसे चिकने पदार्थ पर रज-कण आकार चिपक जाते हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते हैं।

राग-द्वेष, मोह आदि जो विकृत भाव कर्म पुद्‌गलों के बन्ध के कारण हैं, वे भाव-बन्ध हैं और कर्म-पुद्‌गलों का आत्म प्रदेशों के साथ एकमेक होना द्रव्य-बन्ध है।

पुद्गल की अनेक जातियों में एक 'कार्मण' जाति है । इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जब आत्मा में रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वहीं के आत्म-प्रदेशों से बद्ध हो जाते हैं, जहां वे पहले से मौजूद थे। यही बन्ध का स्वरूप है। बन्ध के समय उन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार कहे जाते हैं।

गाय घास खाती है और अपनी औदर्य यन्त्र-प्रणाली द्वारा उसे दूध रूप में परिणत कर देती है। उस दूध में चार बातें होती हैं—

(१) दूध की प्रकृति (मधुरता)। (२) काल-मर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि। (३) मधुरता की तरतमता, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम और बकरी के दूध की अपेक्षा मधुरता होना आदि। (४) दूध का परिमाण—एक सेर दो सेर आदि।

इसी प्रकार कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृति-बन्ध है। कर्म के स्वभाव असंख्य हैं, फिर भी उन्हें आठ भागों में विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद में दिया गया है। स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल-अवधि भी निश्चत हो जाती है, जिसे स्थिति-बन्ध कहते हैं। फल (रस) देने की तीव्रता अथवा मन्दता 'अनुभाग बन्ध' या 'रस-बन्ध' कहते हैं और कर्म-प्रदेशों का समूह 'प्रदेश-बन्ध' कहलाता है।

इन चार बन्धों में से प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध योगों की चंचलता पर निर्भर होते हैं, अर्थात् कितने कर्मदल बन्ध और उनमें किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, यह बात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है। कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहे और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कषाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है।

९. **मोक्ष** — संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फल-स्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है। जब कर्म नहीं रहते तो कर्मजनित उपाधियाँ भी नहीं रहतीं और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैन-धर्म सम्मत 'मोक्ष' है।

मुक्त दशा में आत्मा अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त, चैतन्यघन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते हैं। जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है, वह फिर कभी विकारमय नहीं होता। वह आस्रव और बन्ध के कारणों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है। मुक्तात्मा फिर कभी संसार में अवतीर्ण नहीं होते। वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त हैं।

आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वं गतिशील है। जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूम्बा जल में छोड़ देने पर नीचे की ओर चला जाता है और ठेठ पेंदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है और जैसे अग्नि शिखा स्वभावतः ऊर्ध्वं गति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्म-लेप से मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्व-गमन करती है।

मूल रूप से तत्त्व के दो ही भेद हैं—जीव और अजीव। शेष तत्त्व कुछ जीव से सम्बन्धित हैं, कुछ अजीव से सम्बन्धित हैं। जैन-ग्रन्थों में तीन प्रकार से तत्त्व-वर्णन किया गया है—संक्षेप शैली में, मध्यम शैली में और विस्तार शैली में। संक्षेप की अपेक्षा से तत्त्व दो हैं। मध्यम की अपेक्षा से तत्त्व के सात भेद हैं, इसमें पुण्य और पाप को आस्रव में गिन लिया गया है। विस्तार की अपेक्षा से तत्त्व नौ हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

तीन

संस्कृति और साहित्य

संस्कृति की परिभाषा करना कठिन है। क्योंकि उसके सदा गति-शील होने के कारण उसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। अतः उसकी परिभाषा भी कठिन हो जाती है। संस्कृति और सभ्यता का साधारणतया एक अर्थ किया जाता है, परन्तु संस्कृति और सभ्यता में कुछ अन्तर अवश्य है। सभ्यता का मूल सम्बन्ध सभा से है। सभा में बैठने की समझ रखने वाला अथवा उसमें बैठने वाला सभ्य कहलाता है। सभ्य का उचित व्यवहार, सभ्यता है। सभ्यता का सम्बन्ध व्यक्ति की अपेक्षा समूह से अधिक है। परन्तु संस्कृति के सम्बन्ध में हम न ऐसा कह सकते हैं और न ऐसा सुन सकते हैं। क्योंकि संस्कृति का सम्बन्ध संस्कारों से है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं तथा समाज के भी। इस आधार पर संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी है। समान धर्म, समान विश्वास, समान विचार, समान आचार, समान कर्म-काण्ड, समान दर्शन, समान भाषा और समान साहित्य—संस्कृति को एकरूपता तथा एक स्वरूप प्रदान करते हैं। समान विचार और समान आचार वाले व्यक्तियों की संस्कार—परम्परा को कदाचित् संस्कृति नाम दिया जा

सकता है । संस्कृति, जिस रूप में हम आज उसे मानने लगे हैं, विकास की मंजिलों की ओर उतना संकेत न कर अधिकतर उन शुष्क तत्त्वों से सम्पर्क रखती है,जो विचार, आचार, विश्वास, कला, रुचि और आदर्श की ओर गतिशील है तथा जो सभ्यता से अगला कदम है । सभ्यता को यदि शरीर कहा जाए, तो संस्कृति को आत्मा कहा जाएगा । विकास-कर्म की अपेक्षा सभ्यता संस्कृति से पहला कदम है । सभ्यता और संस्कृति जीवन-विकास के दो पहलू हैं । सभ्यता स्थूल की ओर संकेत करती है और संस्कृति सूक्ष्म तत्त्व की ओर । सभ्यता आदिम वन्य स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है तथा संस्कृति उसी प्रगति की सत्य, शिव और सुन्दर रुचिर परम्परा का नाम है । सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मनुष्य की विजय के परिणाम हैं, दोनों मानव-जाति की सम्मिलित विरासत हैं । वे सब को सबकी देन हैं। परस्पर वैर रखने वाली जातियां भी एक-दूसरे से कुछ सीखती है । तथा एक-दूसरे को कुछ देती भी हैं । भूगोल, खगोल, गणित एवं विज्ञान आदि इसके प्रबल साक्षी हैं । इन पर न किसी एक जाति का अधिकार रहा है और न रहेगा । इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक जाति ने दूसरी जाति को लड़कर मिटा दिया, परन्तु उसकी शोधों को, उसकी सभ्यता को और उसकी संस्कृति को वह न मिटा सकी, बल्कि उनको उसने स्वीकार करके अनेक बार अपने विचार और आचार का आदर्श बनाया है ।

भूमि और काल का कोई विन्दु ऐसा नहीं है, जहां पर खड़ा होकर कोई यह कह सके कि इसके बाद ऐसा कुछ शेष नहीं है,

जिसका मेरे ऊपर कुछ प्रभाव हो। वस्तुतः विचार की गहराई में उतरकर देखा जाए तो हम सब सबसे कुछ-न-कुछ सीखते हैं, और सब का सब के ऊपर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है। यह सही है कि प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश का अपना-अपना विश्वास और अपनी-अपनी समझ होती है, जिसके अनुकूल होकर वह अपने संस्कारों को संस्कृति का रूप देती है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की संस्कृति भिन्न होने पर भी, वस्तुतः संस्कृति के मूल तत्त्व प्रायः भिन्न नहीं होते। भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके अपने आचारपूत चिन्तन में तथा सत्य की खोज में रही है। भारत के महान् चिन्तकों ने युद्ध के अवसर पर भी यहाँ के लोगों को शान्ति की एवं अहिंसा की सीख दी है। क्रोध के बदले प्रेम और हिंसा के बदले दया दी है। ग्रीक देश का सिकन्दर यहाँ तलवार लेकर आया था किन्तु भारत से लौटते समय वह यहाँ का प्रेम लेकर ही लौटा। शक और हूण एक दिन भारत पर आक्रान्ता होकर आये थे, परन्तु भारतीय संस्कृति के रंग में रंग-कर वे लोग भारत के नागरिक हो गए। भारतीय संस्कृति ने सदा से प्रहार देने वाले को प्रेम दिया है, अपने इसी गुण के आधार पर वह आज भी जीवित है और रहेगी।

भारत की संस्कृति मूल में एक होकर भी आगे चलकर वह त्रिधारा में विभक्त हो गई—वैदिक, जैन और बौद्ध। भारतीय संस्कृति को हम दो विभागों में भी विभक्त कर सकते हैं—ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार है—वेद, जबकि श्रमण संस्कृति का मूल आधार पोथी-विशेष और व्यक्ति-विशेष न होकर अनुभव, विचार

तथा समता-भाव है। श्रमण संस्कृति का आधार तीन शब्दों पर है— श्रम, शम, एवं सम। श्रमण संस्कृति के अनुसार व्यक्ति अपना विकास अपने श्रम पर करता है। दूसरे का श्रम काम नहीं आ सकता। शम का अर्थ है— अपनी वृत्तियों को मन को और इन्द्रियों को शान्त रखना। सम का अर्थ है—समता भाव, अर्थात् सब को समान समझना। सभी के प्रति समभाव रखना। इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, शम और सम —इन तीन तत्वों पर आश्रित है। श्रमण संस्कृति का यह निष्कर्ष है।

श्रमण-संस्कृति की देन :

समता भाव—श्रमण-संस्कृति भारत की ही नहीं, विश्व की एक मौलिक संस्कृति है। इस संस्कृति के बीज वर्तमान इतिहास की परिधि से बहुत परे प्राचीनतम भारत की मूल संस्कृति में सन्निहित हैं। श्रमण संस्कृति का मूल आधार है--समता। समता व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति, समाज की समाज के प्रति और राष्ट्र की राष्ट्र के प्रति होनी चाहिए। श्रमण-संस्कृति की दृष्टि में मानव मात्र एक हैं, उनमें ऊंचता और नीचता की कोई भेद-रेखा नहीं है। इस संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना के बल पर अरिहन्त और सिद्ध भी बन सकता है, जो श्रमण संस्कृति का चरम लक्ष्य है। श्रमण संस्कृति प्राणीमात्र में समता देखना चाहती है। क्योंकि उसका मूल आधार समता में है, विषमता में नहीं।

अहिंसा--मानव-जाति को मांस-भक्षण की अवांछनीयता एवं अनिष्ट-कारिता समझाकर मांसाहार से विमुख करने का

सूत्रपात जैन-धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धांत अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन-धर्म ने ही दिया है। जैन-धर्म ने अहिंसा को इतनी दृढ़ता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिंसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अंग बन गई। जैन धर्मोपदेशकों की यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिंसा की साधना ही है। उनकी बदौलत ही आज अहिंसा विश्वमान्य सिद्धान्त है। देश-काल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही हैं। जैन-धर्म की अहिंसा के रूप में एक महान् देन है, जिसे विश्व के मनीषी कभी भूल नहीं सकते।

यों तो भगवान् ऋषभदेव के युग से ही अहिंसा तत्त्व, प्रकाश में आ चुका था, मगर जान पड़ता है कि मध्यकाल में पुनः हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी। तब बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्ट नेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने विवाह के लिए श्वसुर-गृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशु-पक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में भारी सनसनी पैदा कर दी। वासुदेव कृष्ण के भाई अरिष्टनेमि का वह साहसपूर्ण उत्सर्ग सार्थक हुआ और समाज में पशु-पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पश्चात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विषैले प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी,

उसे निश्शेष करने के लिए चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। आज यद्यपि हिंसा प्रचलित है, फिर भी विचारवान् लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टि-परिवर्तन के लिए जैन-परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा है।

अनेकान्त-दृष्टि—दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य शुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बन्धनों से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य— मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति के बिना शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। बोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुधारी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है— तब तो ज्ञान आत्म-विकास का साधन बनता है। इसके विपरीत ज्ञान के साथ यदि उद्दण्डता, संकीर्णता, पक्षपात एवं असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, तो वह अधःपतन का कारण बन जाता है। मानवीय दौर्बल्य से उत्पन्न यह अवांछनीय वृत्तियां अमृत को भी विष बना देती हैं।

जैन-धर्म ने उक्त कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकती है। वह 'कला' ज्ञान को सत्य, शिव और सुन्दर बनाती है, इस कला को जैन-दर्शन ने 'अनेकान्त-दृष्टि' का नाम दिया है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादों का साधार समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता,

नम्रता, सहिष्णुता और सात्विकता उत्पन्न करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह एक महान् वरदान है।

अवतारवाद—जैन-धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर विचार करते समय एक बात अनायास ही ध्यान में आ जाती है। वह है उसके अवतारवाद की मान्यता।

आत्मा की चरम विशुद्ध स्थिति क्या है? यह दर्शन-शास्त्र के चिंतन का एक प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवरुद्ध हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भाँति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिक-दर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्तःकरण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वथा वंचित हो जाता है। ज्ञान और सुख ही आत्मा के असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में?

संसार में जितने अनादि-मुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक, अद्वितीय है। जीव-

जाति से वह पृथक् है। संसार में अधर्म की वृत्ति और धर्म का ह्रास होने पर उसका संसार में अवतरण होता है। उस समय वह परमात्मा से आत्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन-धर्म अवतार-वाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन-धर्म प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है और परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुनः भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श सम्भव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन और पथ-प्रदर्शन जैन-धर्म से मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन-धर्म का यह निरूपण-प्रत्येक नर को नारायण और भक्त को भगवान् बनने का अधिकार देना ही उसकी मौलिक मान्यता है।

गुण-पूजा—जैन-धर्म सदैव गुण-पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वर्ण अथवा बाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति की महत्ता अंगीकार नही करता। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही एक ऐसा वर्ग चला आता है, जो वर्ण-व्यवस्था के नाम पर, अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एक अखण्ड मानव-जाति को अनेक खण्डों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार, समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को अधिक-से-

अधिक अवकाश हो, परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

"एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाए और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी, केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाए, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्‌गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार—सदाचार से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान - ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण—सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यही ऐसी स्थिति है, जो गुण-ग्राहक विवेकी जैनों को सह्य नहीं हो सकती।

अतएव जैन-धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण, कोई व्यक्ति आदरणीय होना चाहिए और अवगुणों के कारण अनादर-णीय एवं अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पोषक जैना-गमों के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

"मस्तक मुँडा लेने से ही 'श्रमण' नहीं हो जाता, ॐकार का जाप करने मात्र से कोई 'ब्राह्मण' नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई 'मुनि' नहीं होता और कुश-चीर के परिधान-मात्र से कोई 'तपस्वी' का पद नहीं पा सकता।"

"समभाव के कारण श्रमण, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपासना करने के कारण मुनि और तपश्चर्य में निरत रहने वाला 'तापस' कहा जा सकता है।"

"कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।"

"मनुष्य-मनुष्य में जाति के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टि-गोचर नहीं होता, मगर सदाचार के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि जैन-धर्म ने जन्मगत वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पाँति की क्षुद्र भावनाओं को प्रश्रय न देकर गुणों को ही महत्त्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन-संघ ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एवं जाति का विचार न करते हुए समान-भाव से स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच में भी कोई अलंघ्य दीवार स्वीकार नहीं करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है?

अपरिग्रहवाद—संसार का कोई भी परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है, किन्तु सब धर्म एक स्वर से इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म के प्रसिद्ध पुस्तक 'बाइबिल' का उल्लेख प्रायः सभी जानते हैं कि—"सुई की नोक में से ऊंट कदाचित् निकल जाए, परन्तु धनवान् स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता।" परिग्रह की यह कड़ी-से-कड़ी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापों का मूल और आत्मिक पतन का

कारण कहते हैं। किन्तु जैन-धर्म में अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत सुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन-संघ मुख्यतया दो भागों में विभक्त है—त्यागी और गृहस्थ। त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है। जैन-त्यागी संयम-साधना के लिए अनिवार्य कतिपय उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार में नहीं रखता। यहाँ तक कि अगले दिन का भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता। उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है।

गृहस्थ वर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नहीं चला सकता और इस कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रह-त्याग का विधान नहीं किया गया है, उसे सर्वथा अनियंत्रित भी नहीं छोड़ा गया है। गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिए। परिग्रह परिमाण श्रावक के पाँच मूल व्रतों में अन्यतम है। इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पड़ते हैं, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थ दण्ड-त्याग के नाम से गृहस्थ-धर्म के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह से व्यवहार में आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और साथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। इस

प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतों की बड़ी आवश्यकता है ।

अर्थ-तृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाए, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाए, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अन्धकार में विलीन न हो जाए, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना चाहिए। यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाए और सामूहिक रूप में आये तो अर्थ-वैषम्य जनित सामाजिक समस्याएँ स्वत: ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हें हल करने के लिए समाजवाद या अन्य किसी नवीनवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

जैन-धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है, अतएव समाज-शास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है। इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं ।

स्वावलम्बन – ब्राह्मण-संस्कृति परावलम्बन पर निर्भर है। वहाँ दुःखों से उद्धार और सुखों की प्राप्ति के लिए ईश्वर या अन्य देवी-देवताओं की शरण में जाना पड़ता है। श्रमण-संस्कृति का आधार स्वावलम्बन है। वहाँ व्यक्ति को अपना उद्धार करने के लिए परमुखापेक्षी नहीं बनता पड़ता। जीव स्वयं विकास

करता है। अपने भले और बुरे के लिए स्वयं उत्तरदायी है। भगवान् कह रहे हैं—

"पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?"

"अरे पुरुषो ! तुम स्वयं अपने मित्र हो। अपने को छोड़कर अन्य मित्र कहाँ ढूंढ़ रहे हो ?"

ब्राह्मण-संस्कृति में पुरुष देवताओं का गुलाम है। उनके क्रोध से कांप उठता है। उनकी कृपा पर फूल जाता है। किन्तु श्रमण-संस्कृति यह कहती है कि यदि तुम्हें किसी से भय है तो वह अपनी भूलों से। यदि तुम सावधान होकर चलो तो किसी से भय नहीं है।

"सव्वओ पमत्तस्स भयं सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।"

यह वाक्य कर्मठ व्यक्तियों को एक ओर सावधान करता है, दूसरी ओर उनमें साहस का संचार करता है। आत्मा में अनन्त बल है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त सुख है। दुर्बलता की भावना छोड़कर अपनी शक्तियों को प्रकट करो। कामरूपी आवरण को फाड़ डालो। वीर वही है, जो काम-भोगों में नहीं फँसता—पाप नहीं करता। आत्म-स्वभाव में लीन है। जो त्याग और तपस्या के परिश्रम को पहचानता है। यही श्रमण-संस्कृति का उपदेश है।

कर्मवाद—कर्मवाद भी श्रमण-संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। इसका अर्थ है—'जीव जैसा कार्य करता है, उसका फल भोगने के लिए भी वह स्वयं उत्तरदायी है। इसके लिए ईश्वर या किसी

अन्य शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि एक व्यक्ति आंखों पर पट्टी बांधकर या देखते हुए कुएँ की ओर चला जाए तो वह उसमें गिरेगा ही। कुएँ में गिरने और उससे लगने वाली चोट के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होगा। कूप में डालने वाला दूसरा कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

हृदय-परिवर्तन—श्रमण-संस्कृति में बाह्य क्रिया-काण्ड की अपेक्षा हृदय-परिवर्तन पर जोर दिया है। बाह्य रूप का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। मनुष्य किसी भी वेश में हो, किसी भी जाति का हो, किन्तु यदि उसका हृदय शुद्ध है, आत्मा निर्मल है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। यहाँ चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

श्रमण-संस्कृति में शिष्टाचार :

मनुष्य के स्वभाव की यह कमजोरी है, कि वह अधिकार तो चाहता है, पर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाता। जो अधिकार कर्त्तव्य में से आता है, वह मनुष्य को ऊंचा उठाता है। अधिकार और कर्त्तव्य, दोनों साथ-ही साथ चलते हैं। जो एक का अधिकार है, दूसरों को उसी का उपयोग करने देना उस व्यक्ति का कर्त्तव्य का बाहरी रूप आचार कहा जाता है। शिष्ट जनों का आचार यह है, जिससे दूसरों के अधिकारों के प्रति गौरव एवं आत्म-सम्मान की भावना का व्यावहारिक दर्शन हो सके। किसी भी समाज और राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति का मापदण्ड उसके व्यक्तियों का आचार ही कहा जा सकता है।

वातावरण और आस-पास के मानव-समाज को अधिक से अधिक सुखी और शान्त बना सकना ही शिष्टाचार का ध्येय है। शिष्ट पुरुषों का आचार तो उन सभी आदर्शों, सिद्धान्तों और विश्वास एवं विचारों का दर्पण है जो कि मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के नाते समस्त मानव और समाज से सम्बन्ध रखते हैं।

शिष्टाचार की परिधि बहुत विशाल है। शिष्टाचार व्यवहार की एक वह रीति-नीति है, जिसमें व्यक्ति अथवा समाज की सभ्यता और संस्कृति दीख पड़ती है। विवेक-बुद्धि, शान्ति, आत्म-गौरव सत्य और नम्रता सहित किया जाने वाला व्यवहार ही वस्तुतः शिष्ट पुरुषों का आचार कहा जाने योग्य है। व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो—घर में अथवा बाहर में, देश में अथवा विदेश में—शिष्टाचार उसका एक आवश्यक भूषण है, जो न केवल उसका ही, अपितु उसकी जाति, और उसके देश की संस्कृति का भी प्रतीक होता है। शिष्टाचार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम आवश्यक तत्त्व है। वास्तव में शिष्टाचार ही किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का मुख्य परिचायक माना जाता है।

भगवान् महावीर ने शिष्टाचार को लोकोपचार विनय कहा है। इसी को आज सभ्यता कहा जाता है। यदि जीवन में सभ्यता और शिष्टता भी नहीं आई है, तो आध्यात्मिकता तो बहुत दूर की चीज है। अतः प्रत्येक सन्त को और प्रत्येक गृहस्थ को अपने जीवन के विकास के लिए सभ्यता और शिष्टता का तो पालन करना ही चाहिए। श्रमण-संस्कृति में विनय, नम्रता,

शिष्टता और सभ्यता पर बहुत ही अधिक बल दिया गया है। श्रमण-साहित्य में विनय को आन्तरिक तप माना गया है। विनय करने से अहंभाव का नाश होता है और विवेक की प्राप्ति होती है। जैन आगमों में लोक-व्यवहार को ठीक ढंग से साधने के लिए लोकोपचार विनय का उल्लेख किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम ही 'विनय-श्रुत' रखा गया है। उसमें बताया गया है कि शिष्य का अपने गुरुजनों के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए। विनयी शिष्य ही गुरु से शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्थानांग सूत्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पुत्र जीवन भर भी यदि माता-पिता की सेवा करता रहे तो भी वह उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। भगवती सूत्र में इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि श्रावक को मुनिवरों के आवास-स्थान पर पाँचों बातों का पालन करना चाहिए, जिन्हें जैन-परिभाषा में 'पंच-अभिगम' कहते हैं। वे अभिगम इस प्रकार हैं—

१. सचित्त पुष्पों की माला आदि का परित्याग करना।
२. अचित्त वस्तुओं का त्याग आवश्यक नहीं।
३. छत्र और चँवर तथा जूते आदि पदार्थ न ले जाना।
४. तीर्थंकर अथवा मुनि पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना।
५. मन की चंचलता त्याग कर एकाग्र होना।

श्रमणों का पारस्परिक शिष्टाचार—जैन संघ में वन्दनीयता का आधार पर्याय-ज्येष्ठता है अर्थात् प्रत्येक मुनि अपने से पूर्व

दीक्षित मुनि को नमस्कार करता है। इसमें उम्र आदि किसी अन्य बात का विचार नहीं किया जाता। पुत्र यदि पहले दीक्षित हो चुका है और पिता पश्चात् दीक्षित हुआ है, तो पिता अपने पुत्र को नमस्कार करेगा। सूत्रकृतांग, अ०, २ उ० २ सूत्र में बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी यदि बाद में मुनि-दीक्षा ग्रहण करे तो उसका कर्त्तव्य है कि वह पूर्व दीक्षित अपने दास को भी लज्जा और संकोच न करता हुआ वन्दना करे।

मुनि बन जाने पर मनुष्य का गृहस्थ-जीवन समाप्त हो जाता है और एक नवीन ही जीवन का सूत्रपात होता है।

श्रावकों का पारस्परिक शिष्टाचार—शास्त्रीय उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में श्राविकाएं और श्रावक भी अपने से बड़े श्रावक को वन्दना किया करते थे।

पति-पत्नी का पारस्परिक शिष्टाचार—दम्पती को पृथक् शय्या पर ही नहीं, अपितु पृथक्-पृथक् कक्षों में शयन करना चाहिए। पत्नी जब पति के समीप आती है, तो पति आदरपूर्ण मधुर शब्दों में उसका स्वागत करता है, बैठने को भद्रासन प्रदान है, क्योंकि जैनागमों में पत्नी—पति को 'धम्म-सहाया' अर्थात् धर्मसहायिका मानी गई है।

स्वामी-सेवक का पारस्परिक शिष्टाचार—जैन-शास्त्रों में सेवक का 'कोडुम्बिय पुरिस' अर्थात् कौटुम्बिक पुरुष—परिवार का ही सदस्य के रूप में उल्लेख किया गया है। सम्राट् भी अपने सेवक को 'देवाणुप्पिया' कह कर सम्बोधन करते हैं। 'देवाणु-

प्पिया' का अर्थ है—'देवों के प्यारे।' कितना औदार्य, कितना माधुर्य और स्नेह भरा है—इन शब्दों में !

'देवाणुप्पिया' शब्द सम्बोधन का सम्मान्य शब्द है। स्वामी अपने सेवक को, सेवक अपने स्वामी को, पति अपनी पत्नी को, पत्नी अपने पति को और प्रत्येक—प्रत्येक को प्राय: इसी शब्द से सम्बोधित करता है।

श्रमण-संस्कृति के पावन पर्व :

पर्व—धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यक्ति और समष्टि के जीवन-क्रम में जिस विश्वास, आनन्द तथा उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व और उत्सव, दोनों ही मानव की मूलभूत भूख, संस्कार-निर्माण, सभ्यता शिक्षण और संस्कृति अभिव्यंजन का कार्य पूरा करते हैं। किसी भी धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठ-भूमि को समझने के लिए पर्वों और उत्सवों को जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक धर्म के शास्त्र, सिद्धान्त और प्रतीक की तरह अपने मौलिक रूप से पर्व भी होते हैं। दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक विभिन्नता ही पर्वों की विभिन्नता का कारण है। जैनधर्म के भी कुछ अपने पर्व हैं। एक जैन भी वर्ष के किसी-न-किसी दिन को पर्व का रूप देकर अपने धार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। पर्वों का सीधा सम्बन्ध समाज अनुयायी वर्ग से है, किन्तु पर्वों का मूल रूप धर्म के आन्तर विचारों से उत्प्रेरित होता है। जैन-पर्व, जैन-धर्म का प्रतिनिधित्व

करते हैं। जैन-धर्म मानव से खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उप-भोग अथवा हर्ष-विषाद की मांग नहीं करते, अपितु वे तो मनुष्य को तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व तथा विश्वमैत्री की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। जैन-पर्वों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है; जैसे—संवत्सरी-पर्युषण पर्व, दश-लक्षणी पर्व, आयंबिल, अष्टाह्निका, श्रुत-पंचमी, आदि तो धार्मिक पर्व हैं और महावीर जयंती, वीर-शासन जयन्ती, दीपा-वली तथा रक्षा बन्धन सामाजिक पर्व हैं।

संवत्सरी—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में संवत्सरी-पर्युषण के दिनों में से आठवें दिन संवत्सरी को धर्म का सर्वोच्च पवित्र दिवस माना गया है। श्रमण सुधर्मा कहते हैं कि—'हे जम्बू! इस पर्व को श्रमण भगवान् महावीर ने आषाढ़ पूर्णिमा से एक मास, बीस दिन के बाद मनाया था। चातुर्मास में एक मास और बीसवें दिन, अर्थात् भाद्रपद शुक्ला पंचमी को 'संवत्सरी पर्व' आता है। आत्म-शुद्धि के इस महान् पर्व को जैसे भगवान् मनाते हैं, उसी प्रकार गौतम स्वामी, उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा श्री-संघ मनाता है। संवत्सरी की रात का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

समवायांग सूत्र में संवत्सरी का समय निश्चित करते हुए यह भी बताया है कि चातुर्मास के पचास दिन बाद और सत्तर दिन शेष रहते संवत्सरी पर्व की आराधना करनी चाहिए।

संवत्सरी के आठ दिवसों को पर्युषण कहते हैं। संवत्सरी

और पर्युषण दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि 'संवत्सरी' आध्यात्मिक साधनाक्रम में वर्ष का अन्तिम और सर्वप्रथम दिन का बोधक है और 'पर्युषण' शब्द तप और वैराग्य-साधना का उद्बोधक है। अतः संवत्सरी का अर्थ है—वर्ष का आरम्भ और पर्युषण का अर्थ है—कषाय की शान्ति, आत्म-निवास तथा वैराग्य-वृत्ति।

पर्युषण के अर्थ को प्रकट करने वाले आगमों में कितने ही शब्द उपलब्ध होते हैं: जैसे—'पज्जूसणा, पज्जोसवणा, पज्जुसणा' आदि। पर्युषण का शाब्दिक अर्थ है—पूर्ण रूप से निवास करना, आत्म-रमण करना और 'पज्जोसवणा' का अर्थ है—कषायों की सर्वथा उपशान्ति। अनादि कालीन आत्मा में स्थित विकारों का सर्वथा नाश करना तथा ऊर्ध्वमुखी वृत्ति द्वारा ऊर्ध्वगमन करना ही पज्जोसवणा का वास्तविक अर्थ है। जैन साधु और साध्वी, इन आठ दिनों में वर्ष भर में लगे अतिचारों का आलोचन, केश-लुंचन, पर्युषण कल्प वाचन, धर्म-वृद्धि, भगवदाराधन, अष्टम तप तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण रूप छः उपक्रमों को अवश्य करते हैं। श्रावक और श्राविका इन दिनों में व्यावहारिक तथा जागतिक सम्बन्धों से अलग हटकर निरन्तर धर्म-साधना तथा तपस्या में लीन रहते हैं और संवत्सरी के दिन तो जैन समाज का कोई भी बच्चा तक यथाशक्य तप, स्वाध्याय और कथा-श्रवण के बिना नहीं रहते। आठ दिन तक कितने ही जैन, भाद्रपद कृष्णा १३ से भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक निर्जल और निराहार रहकर एक ही स्थान में ध्यान और स्वाध्याय में ही पर्युषण-पर्व मनाते हैं। संवत्सरी के

सायं प्रतिक्रमण के अवसर पर प्रत्येक जैन को चौरासी लाख जीव-योनि से मन, वचन, काया पूर्वक क्षमायाचना करनी पड़ती है। इस दिन भी जो क्षमा-याचना नहीं मांगता है, और न ही क्षमा प्रदान करता है, वह जैन कहलाने का अधिकारी भी नहीं है। प्रेम-मिलन, विश्व-मैत्री तथा विश्व-वात्सल्य ही इस पर्व का मुख्य आधार है।

दश लक्षण पर्व—दिगम्बर सम्प्रदाय में पर्युषण पर्व के स्थान पर 'दश लक्षण पर्व' मनाया जाता है। भाद्र शुक्ला पंचमी से भाद्र शुक्ला अनन्त चतुर्दशी तक इस पर्व की आराधना की जाती है। प्रतिदिन धर्म के दश लक्षणों का विवेचन होता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप दश धर्मों का व्याख्यान, अभ्यास तथा तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों का क्रमशः स्वाध्याय किया जाता है। धर्म के विशाल वाङ्मय में धर्म के इस दश रूपों के लिए किसी भी धर्म में कोई भेद नहीं है। मनुजी के धर्म के दश लक्षण पद्म-पुराण के यति धर्म और जैन-धर्म के दश यति-धर्म परस्पर में एक ही है। इन दिनों में जैन भाई यथाशक्य व्रत, पौषध, उप-वास आदि तप क्रिया का भी अनुष्ठान करते हैं। इन पर्वों के दिनों में जैन समाज में एक नया उत्साह छाया रहता है और जैन-मन्दिर, धर्म स्थान तथा स्वाध्याय-भवन खचाखच भरे रहते हैं। अनन्त चतुर्दशी के दिन किसी-किसी स्थान पर विराट् जलूस भी निकाला जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पर्युषण पर्व और दिगम्बर सम्प्रदाय का दश लक्षण पर्व परिपूर्ण हिंसा के विरुद्ध जैन-जाति का सामूहिक अभियान है। अतः प्राचीन काल से जैन इन दिनों में अन्य प्रकार की हिंसा; जैसे कसाई खाने आदि भी बन्द करवा देते हैं। सम्राट् अकबर ने तो आचार्य हरिविजय सूरीश्वर के उपदेश से प्रभावित होकर अपने साम्राज्य में इन दिनों में हिंसा बन्द करवा दी थी। इसी प्रकार आज भी भारत के कितने ही प्रान्तों में संवत्सरी के दिन हिंसा बन्द रहती है।

अष्टाह्निका पर्व तथा आयंबिल ओली पर्व—दिगम्बर सम्प्रदाय—में कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनों में सिद्ध भगवान् की आराधना तथा स्वाध्याय रूप धार्मिक क्रियाएं उत्साह के साथ की जाती हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चैत्र और आसोज में सप्तमी से पूनम तक नौ दिन आयंबिल तप की साधना की जाती है। हजारों जैन भाई और बहिन आयंबिल तप करते हैं। आयंबिल तप का अर्थ है—अम्ल रस से रहित भोजन, जिसमें रस, गन्ध, स्वाद, घृत, दुग्ध, छाछ आदि किसी भी प्रकार से मिश्रित नहीं किया जाता है। जैन वर्ग की आस्वादन-साधना का यह बहुत उपादेय और उपयोगी उपक्रम है।

श्रुत-पंचमी—दिगम्बर सम्प्रदाय में इस पर्व को आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के द्वारा निर्मित 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धांत ग्रन्थ की परिसमाप्ति के रूप में और स्वाध्याय-प्रेरणा के रूप

में इसे मनाया जाता है। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को उन्होंने यह ग्रन्थ संघ को समर्पित किया था, सांघिक सम्मान श्रुत-ज्ञान के प्रति बढ़े, यही इसका उद्देश्य है।

श्वेताम्बरों में श्रुत-पंचमी कार्तिक शुक्ला पंचमी को मनाई जाती है। श्रुताराधना और श्रुतज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा तथा विनय प्रकट करना ही इसका उद्देश्य है।

महावीर जयन्ती—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन श्रमण भगवान् महावीर की जन्म-जयन्ती जैन-समाज में धूमधाम के साथ मनाई जाती है। इस वर्ष तो महावीर जयन्ती—अमेरिका, इंगलैंड आदि में भी मनाई जाने लगी है। इस दिन विशाल समारोह के साथ चौवीसवें तीर्थंकर महावीर के जीवन, सिद्धान्त तथा दर्शन एवं धर्म के विषय में मनन किया जाता है। उत्सव, जलूस, भाषण, झाँकियाँ आदि का रोचक रूप से कार्यक्रम रहता है। आजकल महावीर-जयन्ती राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करती जा रही है।

इसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थंकरों की सामान्यतया जयन्तियाँ मनाई जाती हैं।

दीपावली श्रावण-पूर्णिमा, दशहरा, दीपावली तथा होली भारत के राष्ट्रीय पर्व हैं। चारों वर्णों के अनुसार प्रत्येक वर्ष का एक-एक व्यावहारिक और धार्मिक सन्देश है। क्रमशः जैसे कि—ज्ञान, क्षात्रत्व, लक्ष्मी, और मनोरंजन तथा शुद्धि और धार्मिक रूप से तपस्या, ब्रह्मचर्य, आत्मज्ञान (लक्ष्मी) तथा आत्म-शुद्धि।

दीपावली भी भारत का प्रसिद्ध तथा लोकव्यापी त्योहार है। तो भी दीपावली का ऐतिहासिक उद्गम रूप विवरण किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है।

किन्तु श्वेताम्बर आगमों और दिगम्बर पुराणों में इस सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। आशय दोनों का एक है। श्रमण भ० महावीर के निर्वाण के समय नव लिच्छवि और नव मल्लि राजाओं ने पौषध व्रत रखा था। कार्तिक अमावस्या का दिन था। रात्रि के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। उस समय राजाओं ने आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य भ० महावीर के अभाव में रत्नों के प्रकाश से उस स्थान को देदीप्यमान किया था। परम्परागत उसी प्रकार जनता दीप जलाकर उस परम ज्ञान की उपासना कर प्रेरणा प्राप्त करती है, इसी का नाम दीपावली पर्व जैनों के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण पर्व है।

रक्षा-बन्धन—ब्राह्मण लोगों के हाथों में राखियाँ बाँधते समय इस पर्व का महत्त्व तथा इतिहास प्रतिपादक श्लोक पढ़ा करते हैं; जिसका आशय है कि—'जिस राखी से दानवों का इन्द्र महाबली बलि राजा बाँधा गया, उसी से मैं तुम्हें बाँधता हूं, अडिग और अडोल होकर मेरी रक्षा करो।'

बलिराजा की कथा वामनावतार के प्रसंग में उद्धृत अवश्य हो गई है, किन्तु इससे 'रक्षा-बन्धन' के महत्त्व का अनुभव नहीं मिलता है। जैन-साहित्य में इसी पर्व के सम्बन्ध में कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखने वाले बलि को

महाराज पद्म से उपकृत रूप से वरदान पूर्ति के निमित्त सात दिन का राज्य मिल गया था। अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात-सौ शिष्यों सहित उधर आ निकले, बलि को बदला लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने मुनि संघ को एक बाड़े में घेर कर पुरुषमेघ यज्ञ में बलि करने की ठानी।

ऐसे संकट-काल में एक वैक्रिय लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई कि आप ही इस मुनि संघ पर संकट को दूर कीजिए। तपस्या में लीन विष्णुकुमार मुनि, मुनिवर्ग की रक्षा निमित्त नगर में आए और अपने भाई पद्मराज को समझाया कि—"भाई ! इस कुरुवंश में तो साधुओं का आदर होता आया है, किन्तु इस प्रकार का पापकारी कुकृत्य नहीं हुआ।"

पद्मराज को दुःख तो बहुत था, किन्तु वह वचनबद्ध था, अतः उसने अपनी विवशता बताई। विष्णुकुमार मुनि बलि के समीप पहुंचे और उससे मुनि संघ के लिए स्थान माँगा। बलि कहा कि अच्छा—"मैं ढाई कदम जगह देता हूं, उसमें रह लो।" इस पर विष्णुकुमार जी को रोष हुआ और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्होंने वहाँ प्रकट किया। और एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, और तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देखकर पृथ्वीवासी जन अत्यन्त क्षुब्ध हो गये, बलि क्षमा माँगने लगा, राज्य उसने वापस कर दिया और समूचा संकट टल गया।

मुनिजनों पर संकट आया देखकर लोगों ने अन्न-जल का

त्याग कर दिया था। संकट टलने पर मुनि जब घर नहीं आये, तो लोग भोजन कैसे करें ! सात-सौ मुनि जितने घर आ सकते थे, उतने घर गए और बाकी ने श्रमणों का स्मरण कर, प्रतीक बनाकर भोजन किया, अतः उसी दिन से रक्षा-बन्धन के दिन दोनों ओर मनुष्य का चित्र बनाकर राखी बाँधने की प्रथा चल पड़ी। इस प्रथा को आज भी उत्तर भारत में 'सौन' कहते हैं, सौन शब्द 'श्रमण' का ही अपभ्रन्श है।

श्रमण-संस्कृति के विषय में यहाँ पर संक्षेप में विचार किया गया है। फिर भी श्रमण-संस्कृति की देन शिष्टाचार और पावन पर्वों के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें बतलाने का प्रयत्न किया गया है। श्रमण-संस्कृति का सम्पूर्ण परिचय यहां पर कथमपि सम्भव नहीं है। जो सज्जन इस विषय में अधिक विस्तार के साथ जानना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे प्राचीन साहित्य का गम्भीरता के साथ अनुशीलन करें।

श्रमण-साहित्य की रूपरेखा :

धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य का परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस देश और समाज का धर्म, दर्शन और संस्कृति में जितना गहन और शुद्ध विश्वास होता है, उसका साहित्य उतना ही अधिक ठोस और गम्भीर होता है। धर्म साहित्य को विश्वास देता है, दर्शन साहित्य को तर्क देता है और संस्कृति साहित्य को विशालता प्रदान करती है। साहित्य किसी भी वंश और समाज का प्रतिबिम्ब होता है। समाज की भावना और देश

के विचार उसके साहित्य में सहज में ही उपलब्ध हो जाते हैं। साहित्य का अर्थ है—जो हित सहित हो। साहित्य मानव के सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाता है। क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मानव-जाति का हित निहित रहता है। साहित्य, साहित्यकार के भावों को समाज में एवं राष्ट्र में प्रसारित करता है, जिससे उसमें सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है। साहित्य समाज-की चेतना में सांस लेता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है, इसी से उसमें जीवन देने की शक्ति आती है। वह मानव को लेकर ही जीवित है, इसलिए वह पूर्ण रूप में मानव-केन्द्रित है। साहित्य उसी मानव की अनुभूति, भावना और कला का साकार रूप है, जो भावनाशील, विचारशील और कला-प्रेमी होता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि कला-प्रेमी ललित भाषा के माध्यम से अपने जिन विचारों का अंकन करता है, वस्तुत: वही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य में 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' का समन्वय होता है। मनुष्य का हृदय साहित्य को भावना देता है, उसकी बुद्धि उसे विचार देती है और उसका आचार उसे शक्ति देता है। साहित्य के अध्ययन से मनुष्य का मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। साहित्य-सेवन से मनुष्य की मनुष्यता का विकास होता है, उसके जीवन में शिष्टता और सभ्यता आती है, और दूसरों के साथ व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त होती है। अतः मनुष्य के सामाजिक जीवन में साहित्य का बहुत बड़ा महत्त्व है।

जैन-धर्म ने विश्व-साहित्य की समृद्धि में असाधारण योगदान किया है। साहित्य के क्षेत्र में जैन-संस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा का और अद्भुत परिकल्पना का परिचय दिया है। जब हम श्रमण-साहित्य की विस्तीर्णता, समृद्धता और उर्वरता की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब हमारा मस्तक उन प्रकाण्ड पण्डित आचार्यों के पाद-पद्मों में सहसा झुक जाता है। उन आचार्यों ने अपने-अपने युग में बहुविधि तथा बहुभाषा-निबद्ध उर्वर साहित्य का सृजन करके भारती के भण्डार को भरने का सफल प्रयत्न किया है। भारतीय संस्कृति व इतिहास के गम्भीर अध्ययन के लिए जैन-साहित्य का परिशीलन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन और इतिहास का वास्तविक परिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जैन-साहित्य, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व के सम्बन्ध में विपुल मात्रा में सामग्री प्रदान करता है।

आगम-साहित्य

श्रमण-साहित्य का मूल स्रोत है—'आगम'। जैन-संस्कृति और जैन-दर्शन का मूल आधार है—आगम वाङ्मय। मूल आगमों में भी स्थान-स्थान पर अनेक विषयों की सुन्दर चर्चा की गई है। जैन-संस्कृति का ऐसा कोई दृष्टिकोण नहीं है, जिसका मूल बीज आगमों में न आ गया हो। जो विषय मूल आगमों में संक्षिप्त रह गया है, चूर्णि, भाष्य और टीका उसी का विस्तार करते हैं। जैनों का आगमोत्तर साहित्य भी बहुत विस्तृत है, जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

श्रमण-साहित्य के विविध रूप

जैन-साहित्य-सरिता का प्रवाह सर्वतोमुखी रहा है । इस सर्वतोमुखी प्रवाह ने भारतीय साहित्य के प्रत्येक प्रदेश को सिंचित और पल्लवित किया है। जैन लेखकों ने केवल अपने धार्मिक-तत्वों का निरूपण और समर्थन करने वाला साहित्य ही नहीं लिखा है, अपितु भारतीय वाङ्मय के अंग-व्याकरण, कोष, छन्द, अलंकार आदि पर भी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाई है । तत्व-निरूपण, न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष, नाटक, छन्द, अलंकार, कथा, इतिहास, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल, खगोल, मंत्र-तंत्र, स्तोत्र-योग, अध्यात्म आदि सकल विषयों पर जैन-विद्वानों ने अधिकारपूर्ण साहित्य प्रस्तुत किया है ।

प्राचीन जैन-साहित्य इतना समृद्ध है कि उसका वर्णन इस ग्रन्थ के इन कतिपय पृष्ठों में नहीं किया जा सकता है, तदपि उल्लिखित विषयों पर पिछले पृष्ठों में नमूने के तौर पर मुख्य-मुख्य प्रसिद्ध लेखकों और ग्रंथों का दिग्दर्शन और नाम-निर्देश किया गया है । इतने उल्लेख मात्र से भी जैन-साहित्य की सर्वांगीणता और सर्व-व्यापकता का स्थल परिचय सहज ही में प्राप्त किया जा सकता है ।

तत्व-निरूपण—इस विषय पर तो जैनाचार्यों और जैन विद्वान् लिखें; यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैनाचार्यों ने जैन-धर्म के तत्त्वों को निरूपण करने वाला विपुल ग्रन्थ-राशि का निर्माण

किया है। गणधररचित मूल जैनागम और अन्य श्रुत केवलियों के रचे हुए आगमों के अतिरिक्त इनके गूढ़ मर्म को स्पष्ट करने वाले सैकड़ों नहीं, हजारों ग्रंथों का निर्माण हुआ है। व्यवस्थित शैली में तत्त्व-निरूपण करने वाला प्राचीन ग्रंथराज उमास्वाति रचित 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' है। बाद के आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर बड़ी-बड़ी टीकाएं लिखकर जैन-धर्म के मर्म को प्रकट किया है।

न्याय—जैन-न्याय के प्रथम प्रवर्त्तक श्री सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य समन्तभद्र हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने 'न्यायावतार' और समन्तभद्र ने 'आप्त-मीमांसा' लिखकर जैन-न्याय और तर्क-शास्त्र की मूल प्रतिष्ठा की। जैनाचार्यों ने इस विषय में इतना अधिक और इतना सुन्दर साहित्य रचा है कि वह विश्व के दार्शनिक इतिहास की मूल्यवान् निधि बन गया है। जैन-दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त दार्शनिक संसार के लिए महत्त्वपूर्ण अन्वेषण है। न्याय विषय पर लिखे गए साहित्य पर भी पिछले पृष्ठों में विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है। जैन-दर्शन और दार्शनिकों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए विद्याभूषण डा० सतीशचन्द्र द्वारा लिखित 'Mediaeval School of Indian Logic' नामक ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए।

व्याकरण—शाकटायन, देवनन्दि पूज्यपाद, हेमचन्द्र, रामचन्द्र सूरि आदि प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण में शाकटायन का उल्लेख किया है। पूज्यपाद देवनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण लिखा है। इस पर नौवीं-बारहवीं

शताब्दी के बीच में हुए आचार्य अभयनन्दि ने बारह हजार श्लोक-प्रमाण महावृत्ति लिखी। श्रुतकीर्ति ने तेतीस हजार श्लोक प्रमाण शब्दाम्भोज भास्कर न्यास लिखा। हेमचन्द्राचार्य ने सिद्धहेम व्याकरण की रचना की। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र सूरि, शाकटायन द्वितीय, मलयागिरि आदि जैनाचार्यों ने व्याकरण-शास्त्र पर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। आचार्य हेमचन्द्र तो अपभ्रंश के पाणिनि के रूप में विश्व-विख्यात हैं।

काव्य—आचार्यों ने विपुल परिमाण में काव्य और महाकाव्यों की रचना करके संस्कृत साहित्य को चार चाँद लगा दिये हैं। जैनाचार्यों के द्वारा रचे गये महाकाव्य कालिदास, हर्ष, माघ और बाण के ग्रंथों से किसी तरह कम नहीं हैं। श्री हर्ष के 'नैषध चरित' महाकाव्य के साथ स्पर्धा करने वाले देवविमल गणी का 'हीर-सौभाग्य' महाकाव्य, कालिदास के रघुवंश की समानता करने वाला हेमविजय गणी का 'विजय-प्रशस्ति काव्य', जैनेतर पंचकाव्यों से टक्कर लेने वाले जैन-काव्य; जैसे कि—जयशेखर का 'जैन कुमारसंभव', वस्तुपाल का 'नर-नारायणानन्द काव्य,' बालचन्द्र सूरि का 'बसन्त विलास', मेरुतुंग सूरि का 'जैन मेघदूत', कवि हरिचन्द्र का, 'धर्मशर्माभ्युदय,' कवि नागभट्ट का 'नेमि-निर्वाण', मुनिभद्र का 'शान्तिनाथ चरित्र', अभयदेव का 'जयन्त विजय' आदि-आदि मुख्य हैं। अठारहवीं शताब्दी के मेघविजय उपाध्याय ने 'सप्त-संधान' महाकाव्य लिखा, जिसका प्रत्येक सात महापुरुषों पर समान रूप से लागू होता है।

कोष—हेमचन्द्राचार्य का 'अभिधान चिन्तामणि' कोष इस विषय में सर्वश्रेष्ठ रचना है। हेमचन्द्र ने 'अनेकार्थ-संग्रह सटीक', 'देशी नाम माला', 'निघण्टु-शेष' आदि कोष-ग्रंथ भी लिखे हैं। इनके शिष्य महेन्द्र सूरि ने 'अनेकार्थ-संग्रह' पर अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी टीका लिखी है। धनंजय ने 'धनंजय-नाम माला' नामक कोष, सुधा कलश ने 'एकाक्षर नाम-माला' लिखी है। इसके अतिरिक्त 'शिलोच्छ कोष' आदि अनेक कोष हैं। बीसवीं शताब्दी में राजेन्द्र सूरि ने 'अभिधान राजेन्द्र' के नाम से विस्तृत कोष (जिन्हें विश्व-कोष कहा जा सकता है) ग्रंथ की रचना की है। पं० हरगोविन्ददासकृत 'पाइअसद्दमहण्वो' और शतावधानी पं० रत्नचन्द्रजी म० कृत 'अर्ध मागधी' कोष इस शताब्दी के महत्व-पूर्ण कोष-ग्रंथ हैं।

नाटक—इस क्षेत्र में भी जैनाचार्यों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। हेमचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्र सूरि ने 'रघु-विलास' नामक नाटक लिखा। हस्तिमल्ल ने 'मैथिली-कल्याण, विक्रांत कौरव, सुभद्राहरण, अंजना-पवनजय' नामक नाटक लिखे। हरिश्चन्द्र ते 'जीवधर' नाटक लिखा। जयसिंह सूरि ने 'हमीर-मद-मर्दन' नामक ऐतिहासिक नाटक लिखा। यशःपाल का 'मोहराज-पराजय', रामचन्द्र का 'प्रबद्ध रौहिणेय', विजयपाल का 'द्रौपदी स्वयंवर', बालचन्द्र के 'करुणा', 'वज्रायुध' आदि कई नाटक-ग्रन्थ जैन साहित्यकारों द्वारा रचित हैं।

छन्द-अलंकार—इस विषय में भी आचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जयकीर्ति तथा यशोविजय जी ने कई ग्रन्थ लिखे हैं।

कथा—जैन कथा-साहित्य बहुत विस्तृत और अगाध है। इस विषय में जैनाचार्यों की देन बड़ी अद्‌भुत है। प्राचीन काल की कथाओं को आज तक टिकाए रखने का अधिकांश श्रेय जैन मुनियों और साहित्यकारों को है, यह प्रायः सब पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वान् स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर विन्टरनीट्स ने 'जैन कथा-साहित्य और उनकी भारतीय साहित्य को देन'—इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। विस्तार भय से यहाँ हम उसे नहीं दे रहे हैं। जैनागमों, निर्युक्तियों, भाष्यों तथा चूर्णियों में अनेक प्रसंगोपात्त कथाएं उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त जीवन-चरित्र और प्रबन्धों के रूप में भी विशाल साहित्य है। त्रिषष्ठि-शलाका, पुरुष-चरित्र, आदि पुराण, उत्तर पुराण (प्राकृत में) पद्म-चरित्र आदि उत्तम पुरुषों के चरित्र-ग्रन्थ जैन धर्माचार्यों के जीवन-चरित्र हैं। प्रबन्ध-चिन्तामणि (मेरुतुंग आचार्य निर्मित) और प्रद्युम्न सूरि का 'प्रभावक चरित्र-ग्रंथ' जैन धर्माचार्यों के जीवत-चरित्र पर खूब प्रकाश डालता है। जैन सिद्धान्तों और गम्भीर तत्त्वों को समझाने के लिए जैनाचार्यों ने कई कथाएं, आख्यायिकाएं और दृष्टान्त आदि लिखे हैं। रास, कथा, जीवन-चरित्र आदि से जैन-साहित्य भरा पड़ा है। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तामिल, तेलगु, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में विविध प्रकार के कथा-ग्रंथों की रचना जैनाचार्यों ने की है।

इतिहास—जैनाचार्यों के ग्रन्थों, उनके अन्त में दी गई प्रशस्तियों और पट्टावलियों से भारतवर्ष के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है कि—

"ऐतिहासिक संसार में तो जैन-साहित्य विश्व के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। जैनों के बहुत-से प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। ऐसे ग्रन्थों और उपाख्यान, जिन्हें भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के जैनों ने अनेक तीर्थंकर, धर्मगुरु और तत्कालीन घटनाओं के उल्लेख के साथ सुरक्षित रखे हैं। वे पुरातत्त्व-सम्बन्धी निर्णय करने के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं।"

हेमचन्द्राचार्य का 'त्रिषष्ठि-शलाका पुरुष-चरित्र' का परिशिष्ट पर्व, जिनसेन और गुणभद्र के 'आदि-पुराण' एवं 'उत्तर-पुराण', प्रभाचन्द्र और प्रद्युम्न सूरि का 'प्रभावक चरित्र', मेरुतुंग का 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' और राजशेखर का 'प्रबन्ध-कोष' आदि-आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्यों पर अच्छा प्रकाश डालने वाले हैं।

नीति और उपदेश—जैनाचार्यों ने केवल जैन-धर्म का प्रचार ही नहीं किया, अपितु उन्होंने सर्व सामान्य के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए बहुत प्रयत्न किये हैं। उन्होंने मानव-समाज को विविध प्रकार से नीति की शिक्षा दी है और नीति-विषयक साहित्य सर्वसाधारण लोक-भोग्य भाषा में लिखकर प्रचारित किया है। धर्मदास गणी की 'उपदेश माला', अमितगति का 'सुभाषित-संदोह', 'पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय', हेमचन्द्र सूरि (मलधारी) की 'उपदेश-माला सटीक', 'उपदेश-कन्दली' तथा 'विवेक-मंजरी' आदि मुख्य हैं। दक्षिण भारत में वेद के जैसा माने जाने वाले 'कुरल' और 'नालदियर' नामक नीति-ग्रन्थ जैनाचार्यों की अपूर्व रचनाएं हैं।

राजनीति और अर्थशास्त्र —इस विषय में भी जैनाचार्यों ने सुन्दर निरूपण किया है। मुख्य रूप से सोमदेव का 'नीति-वाक्यामृत' राजनीति और अर्थशास्त्र का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है। यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समकक्ष है। जैन-परम्परा के अनुसार तो चाणक्य, जो कि 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के रचयिता माने जाते हैं, एक जैन गृहस्थ थे। वे चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री थे। परन्तु आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् इस विषय में शंकाशील हैं, कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रणेता चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री चाणक्य हैं या यह बाद की शताब्दियों का ग्रन्थ है। यह जैन की रचना है, इस विषय में भी सन्देह ही है। सोमदेव का नीति-वाक्यामृतं' कौटिल्य-अर्थशास्त्र के समक्ष होता हुआ भी अपनी कतिपय विशेषताएं रखता है। नीति को प्रधानता देते हुए और अर्थ-शास्त्र का गम्भीर विवेचन है। प्रो० विन्टरनिट्स ने इस विषय में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है।

इस विषय का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र का 'लघु नीतिशास्त्र' है। यह आचार्य हेमचन्द्र के 'बृहदर्हन्नीति-शास्त्र' का सार है।

गणित —इस विषय पर भी जैनाचार्यों ने पर्याप्त लिखा है। केशवदेव के पौत्र और पुष्पदन्त के भतीजे श्रीपति भट्ट, जो विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं, उन्होंने 'गणित-तिलक' और 'बीजगणित' नामक ग्रन्थ लिखे। चौदहवीं सदी में सिंह तिलक ने 'लीलावती वृत्तियुक्त' और 'गणित-तिलक-वृत्ति' लिखी। गणित

और संख्या के विषय में जैनागमों में भी पर्याप्त वर्णन है। ई० स० की नौवीं शताब्दी में महावीर नामक गणितज्ञ ने गणित सार-संग्रह लिखा, जिसका अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है।

ज्योतिष—इस विषय पर विपुल जैन-साहित्य है। बीस पयन्नों में 'ज्योतिष-करण्डक' नामक पयन्ना है, इस पर पादलिप्त सूरि ने टीका लिखी। भद्रबाहु ने संहिता लिखी। श्रीपति भट्ट ने 'सिद्धान्त शेखर', ज्योतिष रत्नमाला, देवज्ञ वल्लभ. जातक-पद्धति, श्रीपति निबन्ध, श्रीपति समुच्चय, श्री कोटिदकरण और ध्रुवमानसकरण' ग्रन्थ लिखे। पद्मप्रभु सूरि ने 'भुवन-दीपक, ग्रह-प्रकाश', नरचन्द्र सूरि ने 'ज्योतिष सार' लिखा। नरचन्द्र (कास-द्रह गच्छ) प्रश्नशतक. 'जन्म-समुद्र सटीक' और ठक्कर फेरू ज्योतिषाचार्य ने 'ज्योतिष-सार सटीक' लिखा। उदयप्रभ सूरि ने 'आरम्भ-सिद्धि' और हेमहंस गणी ने उस पर टीका लिखी। सुमति हर्ष ने 'जातक-कर्म पद्धति' पर टीका, बृहत्पर्व माला (ताजिक सार टीका) 'गणक कुमुद कौमुदी' (भास्वर कृत कर्ण कुतुहल पर टीका) लिखी। यशस्वत सागर ने अठारहवीं सदी में 'ग्रह-लाघव वार्तिक' और 'यशोराजिराज पद्धति' (जन्म-कुण्डली विषयक ग्रन्थ लिखा। हर्षकीर्ति ने 'ज्योतिष सारोद्धार' ग्रन्थ लिखा।

आयुर्वेद—पूज्यपाद देवनन्दि का 'वैद्यक शास्त्र', गुणाकर सूरि का 'योग रत्नमाला' (नागार्जुन) पर वृत्ति, पण्डित आशा-धर का 'अष्टांग-हृदय सटीक', 'द्योतिनी टीका', हरित रुचि का

'वैद्य वल्लभ' आदि इस विषय के जैन ग्रन्थ हैं । हर्षकीर्ति सूरि (१५३५ से १६६८ ई० सन् के बीच) ने 'योग चिन्तामणि' (नुस्खों का संग्रह) और 'वैद्यक-सार संग्रह' ग्रंथ लिखे । सन् १३८६ ई० में मेरुतुंग सूरि ने कांकायन के 'रसाध्याय' पर बहुत सुन्दर टीका लिखी ।

भूगोल-खगोल—इस विषय में जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र और सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र नामक दो आगम-ग्रंथ हैं । उमास्वाति ने 'जम्बू-द्वीप समास' लिखा । हरिभद्र सूरि ने 'लोकबिन्दु क्षेत्र समास वृत्ति' नामक ग्रंथ लिखा । नेमिचन्द्र ने 'त्रिलोक-सार' और उनके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य ने उसकी टीका लिखी । वादिराज सूरि ने 'त्रैलोक्य दीपिका' लिखी । विनय विजय का 'लोक-प्रकाश' इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालने वाला है । क्षेत्र-समास पर मलय-गिरि प्रमुख आचार्यों की टीकाएं इस विषय का सुन्दर निरूपण करती हैं ।

मंत्र-तंत्र-यंत्र—जब जनता चमत्कार की ओर विशेष रूप से झुकने लगी, तब जैनाचार्यों ने युग के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए इस विषय में भी खूब कीर्ति प्राप्त की ।

मंत्र-तंत्रादि के प्रभाव से भी जैनाचार्यों ने अपने शासन की रक्षा और प्रभावना की है । पूज्यपाद देवनन्दि ने 'मंत्र-तंत्र शास्त्र' विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी में लिखा है । सिंह तिलक ने 'मंत्रराज-रहस्य' वि० सम्वत् १३२२ में लिखा । मेघ-विजय उपा-ध्याय ने 'बीसा यंत्र विधि' नामक ग्रन्थ लिखा । इस विषय में प्रकीर्ण रूप से बहुत-सा साहित्य लिखा गया है ।

स्तोत्र - जैन-साहित्य में स्तोत्रों का प्राचुर्य है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक चमत्कार-पूर्ण स्तोत्रों की रचना जैनाचार्यों ने की है। भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र', धर्मघोष का 'ऋषि-मण्डल स्तोत्र', मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र', सिद्धसेन का 'कल्याण-मन्दिर स्तोत्र' धनपाल का 'ऋषभ-पंचशिका स्तोत्र', शोभन की 'शोभन-स्तुति', हेमचन्द्र का 'वीतराग स्तोत्र' आदि-आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। समन्तभद्र का 'स्वयंभू स्तोत्र' भी बड़ा अनुपम है। इन स्तोत्रों की रचना के पीछे चमत्कारों की अद्भुत कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। मयूर और बाण आदि कवियों ने अपने स्तोत्रों से जो चमत्कार बताये वैसे ही और इससे भी बढ़कर अनेक चमत्कार जैनाचार्यों ने इन स्तोत्रों की रचना से प्रदर्शित किये हैं। जैन स्तोत्र-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। इन स्तोत्रों में मंत्र-सिद्धियाँ भी गर्भित हैं।

योग और अध्यात्म—इस विषय पर प्राचीन काल से जैनाचार्यों ने अधिकार पूर्ण ग्रंथों की रचना की है। हरिभद्र सूरि ने 'योगदृष्टि समुच्चय', योग-बिन्दु, योगशतक, योग-विंशति आदि लिखकर व्यवस्थित रूप से योग का निरूपण किया। आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र सटीक' लिखा। प्रभाचन्द्र ने 'समाधि-तंत्र' टीका लिखी। यशोविजय उपाध्याय ने योग-दीपिका, योग-दर्शन विवरण और योग-विंशिका आदि योग ग्रन्थ लिखे। जैनाचार्यों ने योग और अध्यात्म को अभिन्न माना है। जैन-धर्म में योग का अर्थ हठयोग आदि से नहीं है, अपितु ध्यान आदि आध्या-

त्मिक तत्त्वों से है। यशोविजयजी ने 'अध्यात्म सार' 'अध्यात्मोपनिषद्' आदि ग्रंथ लिखे। न्यायविजयजी ने 'अध्यात्म तत्त्वालोक' नामक सुन्दर ग्रंथ लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' आदि ग्रन्थ उच्चकोटि के अध्यात्म के प्ररूपक हैं। संगीत, शिल्प, अष्टांग निमित्त आदि के विषय में भी जैनाचार्यों ने खूब लिखा है। मलधारी राजशेखर के शिष्य सुधाकलश ने संगीतोपनिषद् और संगीतसार क्रमशः १३८० और १४०६ वि० सं० में लिखे। मण्डन मंत्री ने 'संगीत मण्डन' ग्रन्थ लिखा। विज्ञान के सम्बन्ध में जैनागमों में और द्रव्य-निरूपक ग्रन्थों में विपुल सामग्री भरी पड़ी है। जैन पदार्थ विज्ञान आधुनिक विज्ञान से अधिकांश मिलता हुआ है। उक्त विवरण से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि जैन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य ही नहीं, अपितु सर्वांग-सम्पन्न साहित्य है।

इस प्रकार जैन साहित्य बहुविध एवं अनेक भाषा में निबद्ध हैं। धर्म, दर्शन, संस्कृत, साहित्य—काव्य, नाटक, गद्य-काव्य और अलंकार शास्त्र आदि अनेक विषयों पर जैन आचार्यों ने अपने-अपने युग में साहित्य के भण्डार की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। अतः उन ज्योतिर्धर आचार्यों के श्रम से हमारे पास विपुल साहित्य विद्यमान है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है।

भाषा और साहित्य—साहित्य को अभिव्यक्त करने के लिए तथा उसका प्रचार और प्रसार करने के लिये, भाषा की नितांत आवश्यकता है। जैनाचार्यों ने अपनी साहित्य-साधना में अनेक

भाषाओं का उपयोग किया है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तेलगु, गुजराती, मराठी, बंगला, उर्दू और राष्ट्र-भाषा हिन्दी में जैन आचार्यों ने समय-समय पर अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। परन्तु मुख्य रूप में जैन साहित्य की भाषाएं तीन रही हैं—प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश। विदेशी भाषाओं में भी जैन-साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध होता है। जर्मन, रूसी तथा इंगलिश भाषा में हजारों जैन-ग्रंथों का भाषान्तर तथा आलेखन हो चुका है। अतः भाषा की दृष्टि से भी जैन-साहित्य बहुत समृद्ध है।

प्रान्तीय भाषाओं को भी जैनधर्म की महत्वपूर्ण देन है। अपभ्रंश भाषा ही सब प्रान्तीय भाषाओं की जननी है। अपभ्रंश भाषा में सबसे अधिक लिखने वाले और उसे साहित्य का रूप देने वाले जैनाचार्य ही हैं। दक्षिण भारत की कन्नड़, तामिल और तेलगु भाषाओं को साहित्य का रूप जैनाचार्यों ने ही दिया है। दिगम्बर जैनाचार्यों ने कन्नड़ भाषा में खूब साहित्य लिखा है। तुम्बूलूर आचार्य ने कन्नड़ भाषा में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर छयानवें हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी है। हिन्दी और गुजराती साहित्य के आद्य-प्रणेता जैनचार्य ही हैं। राजस्थानी में भी जैनाचार्यों ने कई ग्रंथों का निर्माण किया है। इस तरह भारतीय विभिन्न भाषाओं में नैतिक, धार्मिक और औपदेशिक साहित्य का निर्माण करने का श्रेय जैन साधकों को विशेष रूप से प्राप्त है।

हिन्दी भाव और भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश की पुत्री है। अपभ्रंश साहित्य में जो कुछ भी उपलब्ध है, वह जैनों की बहुत बड़ी देन है। राहुलजी ने लिखा है—'अपभ्रंश' के कवियों का

विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। ये ही कवि हिंदी काव्यधारा के प्रथम सृष्टा थे। हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसी के यही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं। जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में सबसे अधिक काम किया है।

जब से भगवान् महावीर के द्वारा लोकभाषा को आदर दिया गया तब से ही लोक-भाषाओं की प्रतिष्ठा कायम हो सकी। हमारे देश की भाषा का प्रश्न भी इसी आधार-बिन्दु पर हल किया गया है और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का रूप मिल सका है।

प्राचीन भारतीय साहित्य को जैनों के द्वारा दिये गये महत्व-पूर्ण योगदान के सम्बन्ध में प्रोफेसर बुह्लर का यह कथन नितान्त यथार्थ है :—

"व्याकरण, खगोल साहित्य की सब शाखाओं में जैनों के कार्य इतने विशाल हैं कि उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने भी उनकी प्रशंसा की है। इनके साहित्य का कतिपय भाग आज भी पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। दक्षिण भारत की भाषाओं को साहित्य का रूप देने का और इन्हें विकसित करने का कार्य जैन मुनियों ने किया है। यद्यपि ऐसा करने से उनके उद्देश्यों में कुछ क्षति हुई, तदपि इससे भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनका महत्वपूर्ण स्थान सुरक्षित हो गया है।"

भाषा, विचारों का माध्यम है। बिना भाषा के विचारों की

अभिव्यक्ति संभव नहीं है। जब लेखक अपने विचार कलम की नोंक पर उतारता है, तब किसी-न-किसी भाषा का उसे आश्रय लेना ही पड़ता है। जैन आचार्यों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मुख्य रूप में संस्कृत और प्राकृत को पकड़ा तथा गौण रूप में भारत की प्रांतीय भाषाओं को भी। यही कारण है कि जैन साहित्य अनेक भाषाओं में आज भी उपलब्ध है। इस प्रकार भारतीय साहित्य-समृद्धि की श्रीवृद्धि करने में जैन-साहित्य का योगदान काफी रहा है। जैन-साहित्य-रत्नों से भारतीय भारती-भण्डार आज भी समृद्ध है और रहेगा।"